भारत-निर्माता

भारतीय संस्कृति और राष्ट्र के निर्माण में योग देनेवाले
प्रतिनिधि महापुरुषों के शब्द-चित्र

भाग—१

[मनु से अहल्याबाई तक]

लेखक

कृष्णवल्लभ द्विवेदी

संपादक, 'हिन्दी विश्व-भारती'

चित्रकार

पन्नालाल

(आवरण-पृष्ठ का चित्र श्री० वीरेश्वर सेन द्वारा)

: लखनऊ :

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड

प्रकाशक
राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,
एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी लिमिटेड,
चारबाग़, लखनऊ.

मूल्य
सवा तीन रुपए

मुद्रक
भृगुराज भार्गव
अभय-प्रिन्टिङ्ग-वर्क्स;
लखनऊ.

विनु

की याद में

जो एक बीते हुए मधुर स्वप्न की याद है

विषय-क्रम

(* इस चिह्नवाले रेखा-चित्र काल्पनिक हैं, शेष प्रामाणिक फ़ोटो, प्राचीन चित्रों, मुद्राओं और मूर्तियों तथा सर्वमान्य प्रचलित चित्रों के आधार पर बनाए गए हैं।)

वक्तव्य

रत्नगर्भा भारतभूमि इतने महात्माओं की जननी है कि इस पुस्तक के परिमित कलेवर में उन सबकी आरती उतारना असंभवप्राय है। साथ ही उनमें से अधिकतर अपने जीवन के संबंध में आज के पुरातत्व-वेत्ताओं को संतुष्ट करने योग्य इतनी कम सामग्री शेष छोड़ गए हैं कि केवल ऐतिहासिकों के पैमाने के अनुसार उनकी रूपरेखा का निर्माण करना उनके सत्य स्वरूप को विकृत करना होगा। अतएव आगे के पृष्ठों पर अंकित भारत की संस्कृति और राष्ट्रीयता का निर्माण करनेवाले इन चुने हुए महापुरुषों के शब्द-चित्र साथ ही दिए हुए उनके रेखा चित्रों की तरह मुख्यतः भाव-चित्रों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। वे भावना-प्रधान हैं और यदि कहीं-कहीं ऐतिहासिक तथ्य का भी पुट उनमें दे दिया गया है तो केवल प्रसंगवश और गौण रूप में ही।

मेरी अपनी भावना है कि युग-युगान्तव्यापी भारत की बहुमुखी साधना में जिस प्रकार एकता का एक भाव पिरोया हुआ है, उसके महान् साधकों की विविधस्वरयुक्त वाणी और कृतियों में भी उसी प्रकार एक विशिष्ट धाराप्रवाह है। अतएव जिसे हम भारतीय संस्कृति कहकर पुकारते हैं उसके निर्माण और विकास के महान् यज्ञ में मनु, वाल्मीकि, व्यास, श्रीकृष्ण और याज्ञवल्क्य आदि से लेकर रामकृष्ण, गांधी, अरविंद घोष, रवीन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र वसु तथा राधाकृष्णन् तक सभी का हाथ है। महापुरुषों की इस परंपरा को ही हमारे जातीय मंदिर में ज्ञान और जीवन की अमर ज्योति को शत-शत युगों से प्रज्वलित रखने का श्रेय प्राप्त है। वही हमारी जाति के दीर्घ आयु-सूत्र की रक्षक है। तब क्या यह हमारा दुर्भाग्य नहीं, यदि आज हममें से अनेक अपने महान् पुरखों की वाणी और कृतियों ही से नहीं प्रत्युत् बहुतों के नाम से भी अपरिचित रहें! मैं अपना प्रयास सार्थक समझूँगा यदि इससे मेरे देशवासियों के मन में अपने पूर्वजों और उनसे प्राप्त पैतृक निधि का परिचय पाने की जिज्ञासा भर जग जाय।

इस प्रकाशन को मूर्त्त रूप देने के लिए सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र एजूकेशनल पब्लिशिंग कंपनी के संचालक श्री० राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव हैं, जिन्होंने युद्ध के इस महँगे समय में भी इतना अधिक व्यय करने का साहस किया है। उदीयमान चित्रकार श्री० पन्नालाल को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके परिश्रम से पुस्तक को यह कलापूर्ण रूप मिल सका है। मित्रवर श्री० वीरेश्वर सेन तथा श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल का तो मैं विशेष आभारी हूँ, चित्रों के संबंध में जिनके बहुमूल्य परामर्श से मुझे बहुत अधिक सहायता मिली है। आवरण-पृष्ठ का चित्र तो स्वयं श्री० वीरेश्वर बाबू ही की कलाकृति है और मनु का रेखा-चित्र भी उन्हीं के एक भावपूर्ण चित्राङ्कन की प्रतिलिपि है। जहाँ तक संभव हो सका है, अधिकांश चित्र प्रामाणिक फोटो, प्राचीन चित्रों, मुद्राओं अथवा मूर्तियों के आधार पर ही बनाए गए हैं, किंतु जहाँ कोई भी आधार न मिला वहाँ विवश हो कल्पना ही का सहारा लिया गया है।

अनंत चतुर्दशी १९९८ वि०
लखनऊ

कृष्णवल्लभ द्विवेदी

मनु

हमारे देश की प्राचीन अनुश्रुति में एक महत्त्वपूर्ण गाथा है। कहते हैं, आदिकाल में लोग निपट अराजकता की दशा में रहते थे—वे मछलियों की तरह एक-दूसरे का संहार कर जीवन-निर्वाह किया करते। इस अनवरत संघर्ष के कारण जब उनमें से कई नष्ट हो गए, तब बचे हुए लोगों ने मिलकर आपस में अनेक ठहराव किए। उन्होंने तय किया कि अब से हम कटुभाषी, उद्दण्ड, पर-स्त्रीगामी, या पराया धन हरनेवाले का सदा के लिए बहिष्कार कर देंगे। लेकिन जब इस तरह भी काम न चला, तब सबने मिलकर मनु को अपना शासक चुन लिया। पहले तो मनु तैयार न हुए। उन्होंने कहा, मैं बुरे कर्म से बहुत डरता हूँ; फिर मिथ्या आचरणवाले लोगों पर शासन करना तो और भी कठिन कार्य है! किन्तु जब सबने प्रतिज्ञा की कि जो कोई कुकर्म करेगा वह दण्ड का भागी होगा, साथ ही राज्य-कोप के लिए प्रत्येक ने अपने पशुधन और सुवर्ण का पचासवाँ तथा अन्न की उपज का दसवाँ भाग कर के रूप में देना भी स्वीकार किया, तब तेजस्वी मनु ने अनाचार का दमन कर सबको अपने-अपने धर्म-कर्म में नियोजित कर दिया।[१]

कहानी बहुत पुरानी है—उस रहस्यमय धुँधले युग की, जब बचपन के कुहरे में से निकलकर मानवता पहलेपहल सभ्यता के आलोक में निखरने लगी थी। ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक युगों का यह संधिकाल महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और भौगोलिक

१. दे०, महाभारत, शान्ति-पर्व (६७।१७-३२)। मनुस्मृति (७।३), कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१३), और शुक्र-नीति (१।११।१२५-४०) में भी यह गाथा उल्लिखित है।

मनु

हमारे देश की प्राचीन अनुश्रुति में एक महत्त्वपूर्ण गाथा है। कहते हैं, आदिकाल में लोग निपट अराजकता की दशा में रहते थे—वे मछलियों की तरह एक-दूसरे का संहार कर जीवन-निर्वाह किया करते। इस अनवरत संघर्ष के कारण जब उनमें से कई नष्ट हो गए, तब बचे हुए लोगों ने मिलकर आपस में अनेक ठहराव किए। उन्होंने तय किया कि अब से हम कटुभाषी, उद्दण्ड, पर-स्त्रीगामी, या पराया धन हरनेवाले का सदा के लिए बहिष्कार कर देंगे। लेकिन जब इस तरह भी काम न चला, तब सबने मिलकर मनु को अपना शासक चुन लिया। पहले तो मनु तैयार न हुए। उन्होंने कहा, मैं बुरे कर्म से बहुत डरता हूँ, फिर मिथ्या आचरणवाले लोगों पर शासन करना तो और भी कठिन कार्य है! किन्तु जब सबने प्रतिज्ञा की कि जो कोई कुकर्म करेगा वह दण्ड का भागी होगा, साथ ही राज्य-कोष के लिए प्रत्येक ने अपने पशुधन और सुवर्ण का पचासवाँ तथा अन्न की उपज का दसवाँ भाग कर के रूप में देना भी स्वीकार किया, तब तेजस्वी मनु ने अनाचार का दमन कर सबको अपने-अपने धर्म-कर्म में नियोजित कर दिया।[१]

कहानी बहुत पुरानी है—उस रहस्यमय धुँधले युग की, जब बचपन के कुहरे में से निकलकर मानवता पहलेपहल सभ्यता के आलोक में निखरने लगी थी। ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक युगों का यह संधिकाल महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और भौगोलिक

[१] दे०, महाभारत, शान्ति-पर्व (६७।१९-३२)। मनु-स्मृति (७।३), कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।१३), और शुक्र-नीति (१।११।१२५-४०) में भी यह गाथा उल्लिखित है।

नवनिर्माण का समय था, जिसकी धूमिल स्मृति आज भी उस युग की रहस्यपूर्ण गाथाओं में सुरक्षित है। हमारे देश में उक्त काल में होनेवाले सांस्कृतिक युगान्तर की एक झलक जहाँ ऊपर उल्लिखित गाथा में मिलती है, वहाँ उस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण भौगोलिक घटना की सूचना यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण से लेकर महाभारत और पुराणों तक समस्त आर्य-साहित्य में बिखरी हुई उस प्राचीन बाढ़ या जलप्लावन की कथा * में पाई जाती है, जिसका उल्लेख एक अथवा दूसरे रूप में बाबुली (बेबिलोनियन), काल्दी (कैल्डियन), यहूदी (हिब्रू), चीनी, यूनानी, ईरानी, तथा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुंजों में बसनेवाली आदिम जातियों की अनुश्रुति में भी है। अचरज की बात तो यह है कि उपरोक्त दोनों कथानकों के प्रधान पात्र मनु ही हैं—वही दोनों के केन्द्र-बिन्दु हैं! एक में वह जलप्लावन के बाद बचे हुए एकमात्र मानव के रूप में एक नवीन युग के प्रवर्त्तक और आधुनिक मानव जाति के आदिम पूर्वज की तरह हमारे सामने आते हैं तो दूसरे में अराजक दशा के अन्धकार से मनुष्य को पारस्परिक ठहराव द्वारा निर्धारित सर्वप्रथम आचारमूलक समाज-व्यवस्था के उजाले में लानेवाले राष्ट्र-नायक के रूप में दिखाई देते हैं। भारत के तो, संभवतः, वही आदि महापुरुष हैं। यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बाढ़ उतर जाने पर संसार के अन्य भूखण्डों की तरह जहाँ इस महादेश की भौतिक रूपरेखा निखरी होगी, वहाँ साथ ही क्रमशः उसकी संस्कृति की भी एक धुँधली-सी लीक प्रस्फुटित होने लगी होगी। इस आदिम सांस्कृतिक रेखाकृति के आदि चतुर चितेरे कौन थे, हमें मालूम नहीं। केवल मनु का ही नाम ऐसा है जो प्रागैतिहासिक युग के उस अन्धकार में से उदय होते हुए एक विशिष्ट व्यक्तित्व का आभास हमें देता है। वही हमारे सांस्कृतिक क्षितिज पर प्रकट होनेवाले प्रथम नक्षत्र हैं। तब क्यों न हम उन्हें ही अपने सर्वप्रथम प्रातः-स्मरणीय राष्ट्र-निर्माता कहकर अभिहित करें?

आधुनिक इतिहासकार चाहे मनु को अपने विवेचन के क्षेत्र में न लिये हों, किन्तु इस देश की विगत हज़ारों वर्ष पुरानी अनुश्रुति में मनु का नाम और चरित्र चिरंतन इतिहास ही के रूप में दृढ़तापूर्वक माना गया है*। वेदों में मनु यज्ञ के आदि प्रवर्त्तक कहे गए हैं+। वह कई एक वैदिक ऋचाओं के ऋषि भी हैं†। वही प्रथम प्रजापति कहे गए हैं⊙। उन्होंने ही पहले-पहल अश्विनीकुमारों से बीज बोने की कला (कृषि-विद्या) सीखी÷। वैदिक साहित्य में मनु के वचन को परम औषधि कह कर अभिहित किया गया है§। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के अनुसार मनु की विरोधी कोई भी स्मृति (विधान) मान्य नहीं×। काठक और मैत्रायणी संहिताओं में भी मनु का आदर के साथ उल्लेख है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में मनु द्वारा पुत्रों में संपत्ति-विभाग का वर्णन है÷। इसी तरह वेदों के बाद के समस्त भारतीय साहित्य में भी पुराणकारों से महाकवि कालिदास तक सभी ने मनु की यशोगाथा के गीत गाए हैं। वस्तुतः मनु इस देश के लिए कुछ सुनिश्चित जातीय आदर्शों के मूर्त्तिमान् प्रतीक बन गए हैं—वह एक परंपरा के मूल स्रोत हैं। उनके द्वारा निर्धारित समाज-व्यवस्था और शासन-पद्धति की स्फुट रेखाओं से युक्त पगडंडी ही आगे चलकर उस विराट् राजमार्ग में परिणत हो गई, जिस पर क्रमशः रघु, भरत, रामचन्द्र, जनक, युधिष्ठिर, चन्द्रगुप्त, और अशोक जैसे हमारे महिमामय लोकनायकों की परंपरा विकसित हुई।

भारतवर्ष को मनु की सबसे बड़ी देन वह मूल विधान है, जिसके आधार पर आगे चलकर उन्हीं के नाम से प्रचलित सुप्रसिद्ध 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' की रचना हुई। मनुस्मृति का जो संस्करण आज दिन हमें प्राप्त है वह बूलर,

---

* देखो शतपथ ब्राह्मण (१।८।१)।

* टीकाकार मेधातिथि ने मनु के संबंध में लिखा है—'मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठानसंपन्नः स्मृतिपरम्पराप्रसिद्धः'। अर्थात् मनु वेदों के ज्ञान और अनुष्ठान की विधि के पूर्ण ज्ञाता और परम्परागत अनुश्रुति में प्रसिद्ध एक व्यक्ति विशेष ही थे।

+ देखो, ऋग्वेद-संहिता (१०।६३।७); † वही (८।२७-३१); ⊙ वही (१।८०।१६, १।११४।२, २।३३।१३); ÷ वही, [illegible] (१।११२।१६); § तैत्तिरीय संहिता (२।२।१०।२), × (३।१।९।४), ÷ ऐतरेय ब्राह्मण (५।१४)।

जायसवाल आदि विद्वानों के अनुसार ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है*। लेकिन वेवर, मैक्समूलर, बूलर आदि का यह भी मत है कि इससे पहले एक प्राचीन मानवधर्मसूत्र था, और उसकी ही भित्ति पर वर्त्तमान मनुस्मृति का निर्माण हुआ है। कहते हैं, इस धर्मसूत्र का संबंध कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के छः चरणों में से एक 'मानव चरण' से था, इसीलिए इसका नाम 'मानवधर्मशास्त्र' पड़ा। यह धारणा की जाती है कि महाभारत के अन्तिम संस्करण की तरह मनुस्मृति का भी वर्त्तमान संस्करण ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग भृगुवंशी ब्राह्मण आचार्यों ने किया था। मनुस्मृति के कई श्लोक महाभारत में ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। नारद-स्मृति में मनुस्मृति को सुमति भार्गव की कृति वताया है। यह तो स्वयं मनुस्मृति में ही उल्लिखित है कि इसके प्रवक्ता भृगु हैं। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति यथार्थ में मनु द्वारा निरूपित धर्म का भृगु द्वारा प्रस्तुत किया गया रूप है। आज दिन हमें जो मानवधर्मशास्त्र मिलता है, वह उसी मूल विधान का अन्तिम उपलब्ध संस्करण प्रतीत होता है। इसमे बारह अध्याय हैं, जिनमें कुल मिलाकर लगभग ढाई हज़ार अनुष्टुप् श्लोक हैं। कहते हैं, पहले यह ग्रंथ एक लाख श्लोकों में निवद्ध था और उससे भी पहले गद्य में था। इसमे सरल ढंग से सृष्टि की उत्पत्ति, मन्वन्तर, युग और काल-विभाग के संक्षिप्त वर्णन के बाद विशद रूप से चारों वर्ण व आश्रम तथा सोलह संस्कार, तीन ऋण, चार पुरुषार्थ एवं पंच महायज्ञ आदि की योजना में पिरोया हुआ वह विधान बताया गया है, जो भारतीय समाज-व्यवस्था की रीढ़ है। संभव है कि यह विधान लेखवद्ध बहुत बाद मे हुआ हो, किन्तु इसमे संदेह नहीं कि वह भारतीय समाज में प्रतिष्ठापित था बहुत पहले से ही। इसके पीछे एक निश्चित् परंपरा थी, जो आश्चर्य नहीं यदि धुंधले प्राचीन काल मे मनु वैवस्वत से ही प्रारंभ हुई हो।

सुदूर प्रागैतिहासिक युग से ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी तक—जब कि मानवधर्मशास्त्र का अन्तिम संस्करण हुआ—मनु* के व्यक्तित्व को हम भारतीय गगन में सुविस्तृत आकाश-गंगा की तरह पसरा हुआ देखते हैं। आकाश-गंगा से हमने मनु के व्यक्तित्व की तुलना इसलिए की है कि उनके तेज मे न जाने कितने अविदित समाज-विधायकों का तेज पुञ्जीभूत है। इतिहास के आरंभ के समय मनु के तत्त्वावधान में समाज-व्यवस्था की जो पतली-सी सरल रूपरेखा फूट निकली थी, समाज के निकास के साथ कालान्तर में वही विशद और पहले से अधिक जटिल बन गई। न जाने कितने ही विचारकों और समाज-निर्माताओं की तूलिकाओं का चमत्कार भीतर-ही-भीतर सदियों तक काम करता रहा होगा तब कहीं उसका यह रूप निखर पाया। निस्संदेह युग-युग की विशिष्ट भावनाओं की छाप लगने से उसका रूपान्तर भी होता रहा। फिर भी हम उस व्यवस्था मे निरूपित धर्म को 'मनु का धर्म' कहकर ही अभिहित करते हैं। इसका कारण यही है कि उस धर्म की बाह्य वेष-भूषा का विस्तार, विकृति या रूपान्तर होने पर भी उसके मूल में वही आदि सूत्र विद्यमान हैं, जिनका निर्माण मनु के द्वारा हुआ था।

मनु का वह मूल धर्म क्या है? निस्संदेह वह प्राचीन भारतीय धर्म से कोई अलग वस्तु नहीं है। यह वही धर्म है, जिसके सूत्र वेदों में बिखरे हुए हैं, महाभारत में व्यास ने जिसकी व्याख्या की है, और रामायण में वाल्मीकि ने जिसका जीता-जागता चित्र खींच दिया है। यह धर्म भारतीय समाज-व्यवस्था का मेरुदण्ड है। मनु के धर्म में आचार को सर्वोपरि स्थान दिया गया है—उसे ही परम धर्म माना है† और उस सदाचार-विशिष्ट धर्म के मूर्त्त आदर्श के लिए उस जीवन-क्रम का निर्देश किया गया है जो अति प्राचीन काल ही से इस देश के हृदय-प्रदेश—सरस्वती, गंगा आदि धाराओं से सिञ्चित मध्यदेश—में स्थापित हो चुका था। उस धर्ममूलक आचार की ही सर्वश्रेष्ठता की मानों

* देखो, बूलरकृत 'मानवधर्मशास्त्र' के अनुवाद की भूमिका, और जायसवाल, 'मनु और याज्ञवल्क्य', टैगोर व्याख्यान, १९१७।

* यों तो भारतीय अनुश्रुति में १४ मनु माने गए हैं, किन्तु यहाँ प्रयोजन वैवस्वत मनु से ही है जो इस युग के प्रवर्त्तक हैं।

† देखो, मनुस्मृति (१।१०८)।

सारे संसार को चुनौती देते हुए मानवधर्मशास्त्र में कहा गया है—"इस देश में पैदा हुए श्रेष्ठ पुरुषों से पृथ्वी के सब मनुष्य अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लें।" मनु के जातीय विधान का केन्द्रबिन्दु मनुष्य है। आचार के महत्त्व पर उसमें जो बार-बार ज़ोर दिया गया है, वह इसीलिए कि मनु के विचार में आचार से रहित कोई भी मनुष्य न अपने को न जाति को ही ऊँचा उठा सकता है। मनु का यह 'आचार' ही वैदिक शब्दावली का 'ऋत मार्ग' है। इसी को वाल्मीकि ने 'चरित्र' के नाम से अभिहित किया है और व्यास ने 'धर्म' कहकर उसकी परिभाषा की है। यह आचार मानों भारतीय संस्कृति में मनुष्य की ऊँचाई नापने का एक पैमाना है। रह-रहकर हमारे विचारकों के मानस-सागर में यही ध्वनि उठती रही है—मनुष्य का जीवन-क्रम किस प्रकार का हो? हम किन दिशाओं में अपनी व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन-धाराओं को मोड़ें, जिससे हमारा संपूर्ण विकास होकर हम योग-क्षेम से संपन्न हो सकें? और इस प्रश्न के समाधान के लिए सभी ने अपने-अपने ढंग से एक ही उत्तर दिया है—वह उत्तर है, जीवन को सदाचार की नींव पर स्थापित करो, चरित्र की साधना करो; उस धर्म या ऋत मार्ग का अनुसरण करो जो अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति का साधन है।

इस मानवमूलक धर्म का मनु के विधान में एक पूरा मानचित्र-सा खींच दिया गया है। यह विधान क्या है, मानों सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन के बाद निश्चित किया गया व्यक्ति और जाति के जीवन भर के कार्यक्रम का क्रमवार निर्देश है। संसार के इतिहास में इतने सूक्ष्म वैज्ञानिक ढंग की दूसरी किसी समाज-व्यवस्था का उदाहरण हमें नहीं मिलता। संभवतः, मनु के विधान में इसी उत्कर्ष को देखकर जर्मन तत्ववेत्ता नित्शे ने [illegible] कि 'मनु का धर्मशास्त्र बाइबिल से कहीं ऊँचे दर्जे की बौद्धिक कृति है।' जीवन में अनुशासन की व्यवस्था का प्रतिपादन करनेवाले मनु स्वच्छंदता और अराजकता के कट्टर विरोधी हैं। इसी तरह हम लोक की अवहेलना कर कोरे [illegible] सिद्धान्तों का भी वह समर्थन नहीं करते। वह वास्तव में कर्मयोग के उपासक हैं। उनका धर्म शक्तिमूलक धर्म है। वह जाति को बलवान्, वीर्यवान् देखना चाहते हैं, और इसी उद्देश्य से उस पर अनेक कठोर कर्त्तव्यों और ऋणों का बोझ लाद देते हैं×। इन कर्त्तव्यों को करानेवाली राष्ट्रीय शक्ति को ही मनु ने 'दंड' कहा है, और उसकी प्रशंसा में यहाँ तक कह डाला है कि दंड ही सब कुछ है, वही शासक है, वही नेता है, उसके ही तेज से समस्त जाति अपने निर्धारित कर्त्तव्य कर्म में संलग्न रहती है। इस प्रकार मनु व्यक्ति और जाति दोनों को धर्म के बन्धन में कठोरतापूर्वक बाँध देते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वच्छंद प्रगति या विकास का मार्ग रूँध देते हों। मनु स्पष्ट शब्दों में हमें अपनी अन्तरात्मा के विवेक के अनुसार कार्य करने की भी अनुमति देते हैं*। आज दिन हमारी राष्ट्रीय शक्ति के तार जो ढीले पड़ गए हैं, इसका कारण क्या यही नहीं है कि हम उस अनुशासन और विवेक की राह से एकदम दूर जा पड़े हैं, जिस पर हमारे पूर्वज चला करते थे?

यों तो कोरे तर्क की डोरी पकड़कर चलनेवाले इतिहासकारों ने वाल्मीकि, व्यास, श्रीकृष्ण अथवा याज्ञवल्क्य आदि हमारे किस महापुरुष की ऐतिहासिकता में संदेह प्रकट नहीं किया है? किन्तु इतिहास की परिधि में न समाकर भी वे सब हमारे लिए कितने अधिक सत्य हैं! सच पूछिए तो हमें उनका ऐतिहासिक रूप उतना अभीष्ट नहीं है जितना कि उनका वह भाव-चित्र जिसे हमने अपने मानस-पटल पर अंकित कर रक्खा है। मनु के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। हम उन्हें एक ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष के रूप में नहीं देखते, वरन् उस विराट् भाव-मूर्त्ति में उनकी कल्पना करते हैं, जिसे हमने अपने जातीय मंदिर में श्रद्धापूर्वक विगत अनेक शताब्दियों से प्रतिष्ठापित कर रक्खा है। वह भाव-मूर्त्ति, वास्तव में, हमारे जातीय आदर्शों का एक प्रतीक है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से वह अनिर्णीत भी है, तो भी हमारे लिए वह एक मार्ग-निर्देशक प्रकाश-स्तंभ के ही समान है।

× मनुस्मृति ६।३५।

* मनःपूतं समाचरेत् (मनु० ६।४६।२२)।

वैदिक ऋषि

जिस सुदूर अतीत की बात हम कहने जा रहे हैं, उस युग में हमारी मातृभूमि का वेष आज से कहीं निराला था। विन्ध्य-मेखला के दक्षिण में तो चिरप्रसिद्ध दण्डकवन का प्रसार था ही, उत्तर में भी उन दिनों पुराकाल का निविड़ कानन हहराता था। केवल सरस्वती, दृषद्वती, गंगा आदि धाराओं से सिंचित ऊपरी मैदान में ही हमारे पूर्वजों की कुछ आदिम बस्तियाँ छितरी थीं। हमारे देश के इस आरंभिक वन्य रूप का उसकी संस्कृति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। प्राचीन आर्य बचपन ही से प्रकृति की गोद में पले, प्रकृति के ही आँगन में उन्होंने जीवन के सभी खेल खेले। अतएव प्रकृति की लीलाओं को देख-देखकर उसके अंतिम रहस्यों को जान लेने की एक प्रबल प्यास उनके मन मे जग उठी। इस अदम्य जिज्ञासा ने शैशवकाल ही में उन्हें कवि और दार्शनिक बना दिया। वे आत्म-चिन्तन में निरत हो गए और अंत में उस परम वस्तु के उपासक बन गए, जिसे जान लेने पर फिर कुछ भी जानना आवश्यक नहीं रह जाता।

मानव इतिहास में यह एक नवीन अध्याय के आरंभ की सूचना थी, एक नूतन चेतना की अभि-व्यक्ति। इस नवीन जागरण के भी प्रथम स्वर अरण्य ही से सुनाई दिए। आर्य जनपदों से सटी हुई प्राचीन वनस्थलियों में—जिन्हें वे 'अटवी' कहकर पुकारते—उनके सैकड़ों एकान्त मननकेन्द्र या आश्रम बिखरे हुए थे। ये आश्रम क्या थे, मानो उस युग के समस्त विचार, ज्ञान और विद्या के उत्पादन-क्षेत्र थे। देश के सभी मेधावी मस्तिष्क वहाँ जुटे रहते, अतएव वहीं से जाति के सामा-जिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का नियंत्रण और मार्ग-निदर्शन होता था। वहाँ सूखे विचारों की ऊहापोह के बदले जीवन की प्रयोगशाला मे यथार्थ परख द्वारा कठोर साधना की जाती। इस दृष्टि से आज के विश्व-विद्यालयों से वे कहीं बढ़े-चढ़े थे। जाति की जीवनधारा को सदैव नवीन प्राणशक्ति और वेग से ऊर्जित करते रहनेवाले इन विद्या-संस्थानों एवं सांस्कृतिक केन्द्रों का जन्म और विकास भी बड़े ही विलक्षण ढंग से होता था। प्रायः किसी अरण्यवासी प्राज्ञ मनीषी के आस-पास शिक्षा के लिए एकान्त कानन में अनेक ज्ञान-पिपासु जमा हो जाते। धीरे-धीरे एक पर्ण-कुटी के आस-पास और भी अनेक कुटियाँ, गौओं की गोष्ठियाँ, पाठशालाएँ तथा वेदिकाओं से युक्त सुरम्य यज्ञशालाएँ बन खड़ी होतीं। इस प्रकार नीरव अरण्य एक मधुर जीवन के कलरव से स्पंदित हो उठता। उसमें नवीन वीथिकाओं और पगडंडियों की रेखाएँ खिंच जातीं। पशु-पक्षी और मानव में परस्पर विश्वास का एक अपूर्व भाव पैदा होने लगता, और फलस्वरूप यज्ञ के धुएँ की सोंधी

सुगंध से सुवासित उस तपोभूमि में आ-आकर वन्य मृग निर्भय हो तपस्वियों के हाथ से चारा लेने लगते। प्रकृति के ऐसे निरन्तर साहचर्य और मोद-भरे वातावरण में रहकर किस कवि-हृदय की वाणी न फूट उठती! कालान्तर में अरण्य के कोने-कोने से जाति के क्रान्तदर्शी कवियों की एक अपूर्व स्वर-लहरी उमड़ पड़ी और उसकी ध्वनि से सरस्वती के कांठे से गंगा-यमुना की अंतर्वेदी तक का सारा प्रदेश एकबारगी गूँज उठा। बड़ा ही अद्भुत था वह युग! शायद ही संसार के इतिहास में और कभी एक साथ ही एक ही देश में इतने कवि पैदा हुए हों!

धीरे-धीरे काव्य और विचारों की इन सहस्र-मुखी धाराओं के संकलन से एक विशद वाङ्मय तैयार हो गया, जो न केवल इस देश का बल्कि संसार का सर्वप्रथम साहित्यिक लेखा था। यह 'वेद' या श्रुति कहलाया और जिन मनीषियों के मुख से यह अपूर्व वाणी सुनाई पड़ी थी वे 'ऋषि' के नाम से अभिहित किए गए। उन गौरवशाली पूर्वजों के उत्तराधिकारी के नाते पैतृक संपत्ति के रूप में यह अद्भुत वाङ्मय हमें मिला है, और आज दिन वह हमारी एक अनमोल निधि है। यही हमारी संस्कृति की आधारशिला है। उसी से हमारी ज्ञान-गंगा के धर्म, समाज और वाङ्मय रूपी सभी आदि स्रोत निकले हैं। वास्तव में यदि हमारी संस्कृति से वेद और उनका प्रभाव निकाल दिया जाय तो बचेगा ही क्या? हमारी जाति के दीर्घ आयुष्य का भी रहस्य क्या वे अमर बीज ही नहीं हैं, जिन्हें हमारे वैदिककालीन पूर्वजों ने अपनी संस्कृति का पौधा लगाते समय इस देश की भूमि में बोया था?

वेदों का क्षेत्र और आकार-प्रकार दोनों ही इतने व्यापक हैं कि इन थोड़ी-सी पंक्तियों में उनकी महिमा बखानना तो क्या, पूरी तरह परिचय देना भी कठिन है। आरंभ में केवल तीन वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद—माने जाते रहे। यही प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित 'त्रयीविद्या' या 'वेदत्रयी' थी। इन्हीं में बाद में एक और वेद—अथर्ववेद—की गणना होने लगी। तब से चार वेद कहे जाने लगे। इस सारे वाङ्मय को तीन मुख्य भागों में विभाजित कर दिया गया है—१. संहिता, २. ब्राह्मण; और ३. आरण्यक तथा उपनिषद्*। इनमें संहिताएँ वेद का मंत्र-भाग हैं, जिनमें विविध ऋचाओं (पद्यों), यजुषों (गद्य के प्रयोगसूचक वाक्यों), अथवा सामों (गाने योग्य पदों) का संकलन किया गया है। यही वेदों का मुख्य और सबसे प्राचीन अंश है। कहते हैं, आरंभ में केवल फुटकर ऋचाएँ, यजुष् और साम थे—उनका संहिताओं में संकलन बाद में हुआ। संहिताएँ पाँच हैं—ऋग्वेद संहिता, तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद संहिता, वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता। इनमें ऋग्वेद संहिता सबसे प्राचीन और ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टि से सबकी सिरमौर है। इसके कई सूक्त हेर-फेर के साथ अन्य तीनों वेदों में भी मिलते हैं। यह सारी पद्य में है। कुल मिलाकर इसमें १०१७ सूक्त या कविताएँ हैं, जो दस मंडलों में विभाजित हैं। प्रत्येक सूक्त अथवा स्वतंत्र ऋचा का कोई-न-कोई 'ऋषि' है, जो उसका द्रष्टा या रचयिता कहा जा सकता है। इस प्रकार इसकी १०५८० ऋचाओं के लगभग ३८५ ऋषि हैं, जिनमें से बहुतेरे कुछ चुने हुए वंशों के सदस्य हैं। इन्हीं ऋषि-वंशों के अनुसार एक विशेष योजना के साथ विभिन्न मंडलों में सूक्तों का संकलन किया गया है।

इस प्रकार दूसरे से आठवें मंडल तक प्रत्येक पूरा मंडल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वशिष्ठ और कण्व नामक ऋषियों के वंश का है। नवाँ विविध ऋषियों के सूक्तों का संकलन है, किन्तु उसमें एक ही देवता सोम पवमान की आराधना की गई है, तथा पहले और दसवें मंडल में भी विभिन्न वंशों के ऋषियों के सूक्त हैं, किन्तु वे विविध विषयक हैं। प्रथम मंडल के आरंभिक पचास सूक्त कण्व के वंश के ऋषियों के हैं। मालूम होता है, इस वंश के ऋषियों ने इस वेद का भाण्डार भरने में सबसे बड़ा भाग लिया था। इनमें मेधातिथि काण्व एक बहुत बड़े ऋषि थे। एक अन्य प्रख्यात ऋग्वैदिक ऋषि वामदेव थे, जो आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन के आदि प्रवर्तक माने

* मैक्स और आलम्फ्स ने पहले दो ही विभाग माने हैं। उनके अनुसार उपनिषद् ब्राह्मणों के ही अंग हैं।

जाते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात तो यह है कि ऋषियों में अनेक महिलाओं के भी नाम आए हैं। सुप्रसिद्ध देवीसूक्त की रचयिता वाक् नामक महिला ऋषि ही थी, जो अंभृण ऋषि की पुत्री बताई गई है। अन्य वैदिककालीन प्रतिभाशालिनी स्त्रियों में विश्वावारा, इंद्रसेना मुद्गलानी, लोपामुद्रा, श्रद्धा और घोषा के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऋग्वेद संहिता जहाँ संपूर्ण पद्य में है, यजुर्वेद उसके विपरीत लगभग सारा गद्य में है। यह आकार में ऋग्वेद का लगभग दो-तिहाई होगा और इसमें प्रधानतः यज्ञों के उपयोग में आनेवाले मंत्रों तथा उनके प्रयोग के समय काम में लायी जानेवाली विधि और क्रिया-कलाप का वर्णन है। यह विधि जिन गद्य-वाक्यों में वर्णित है, वे यजुष् कहलाते हैं। कहते है, इस वेद की अनेक संहिताएँ थीं—अकेले महाभाष्यकार पतंजलि ही ने इसकी १०१ शाखाओं का उल्लेख किया है। किन्तु आज दिन पाठ-भेद के अनुसार हमें निम्न पाँच यजुर्वेदीय संहिताओं के ही नाम ज्ञात हैं—काठक संहिता, कापिष्ठल-कठ संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, और वाजसनेयी संहिता। इनमें पहली चार एक दूसरे से बहुत-कुछ मिलती-जुलती और संबंधित हैं, तथा कृष्ण यजुर्वेद के नाम से पुकारी जाती है। इनमें भी तैत्तिरीय संहिता ही सबसे अधिक प्रसिद्ध और मान्य है। सबसे अंतिम वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद संहिता शेष चारों ही से निराली है। कहते हैं, अपने गुरु वैशम्पायन से (जो कृष्ण यजुर्वेद में प्रतिपादित विधि के समर्थक थे) अनबन हो जाने पर प्रतिभाशाली याज्ञवल्क्य ने इस नवीन संहिता की रचना की थी।

सामवेद संहिता यद्यपि ऋग्वेद के ही मंत्रों को लेकर बनाई गई है, किन्तु उसकी एक विशेषता यह है कि वह गीतात्मक है। पुराणों के अनुसार सामवेद की लगभग हज़ार संहिताएँ थीं, किन्तु आज दिन राणायनीय, कौथुमस और जैमिनीय ये तीन ही हमें ज्ञात है। इनमें कौथुमस संहिता सबसे प्रसिद्ध है। इस वेद में संकलित साम यज्ञों के समय 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् द्वारा गाए जाते थे।

चौथा अथर्ववेद यद्यपि बहुत दिनों तक वेदों में नहीं गिना जाता रहा और इसका संकलन भी बाद में हुआ, फिर भी उसके कई सूक्त ऋग्वेद जितने ही प्राचीन हैं। प्राचीनकाल में इसे 'अथर्वाङ्गिरस' कहकर पुकारते थे। यह वेद गद्य-पद्य मिश्रित है और इसमें प्रधानतः मंत्र-तंत्र, अभिचार, आदि की भरमार है, जिन पर अनेक विद्वान् अनार्य्य प्रभाव भी देखते हैं। किन्तु इसके कई अंश—विशेषकर पंद्रहवाँ खण्ड—उच्च तत्त्वज्ञानसूचक भी है। ऐतिहासिक छानबीन के लिए यह वेद बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

यह तो हुआ वेद के मुख्य भाग या संहिताओं का अति संक्षिप्त परिचय। इसके बाद वह अंश आता है जो वेदों के व्याख्या-भाग या 'ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध है। इन रचनाओं का उद्देश्य यज्ञ-विधि आदि कर्मकाण्ड पर प्रकाश डालना था, अतएव उन विधियों के सूक्ष्म विश्लेषण और शास्त्रार्थ की बारीकियों में पड़कर ये ग्रंथ अत्यंत जटिल हो गए है। ये संपूर्णतया गद्य में हैं और वैदिक कर्मकाण्ड को समझने तथा उस युग के जीवन की झलक देखने के लिए इनका निस्संदेह बड़ा महत्त्व है। पर यहाँ हम उनके नाम भर गिना देने के अलावा अधिक परिचय नहीं दे सकते। ऋग्वेद के चार ब्राह्मण हैं—कौषितकि, ऐतरेय, पैंगिरहस्य, और शाट्यायन। कृष्ण यजुर्वेद के भी चार ब्राह्मण हैं—तैत्तिरीय, वल्लभी, सत्यायनी, और मैत्रायणी। शुक्ल यजुर्वेद का केवल एक ब्राह्मण शतपथ है। सामवेद के सामविधान, मंत्र, आर्षेय, वंश, दैवताध्याय, तलवकार, तांड्य और संहितोपनिषद ये आठ ब्राह्मण माने जाते हैं। अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण गोपथ है। इनमें ऐतरेय, शतपथ, तांड्य और गोपथ ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

ब्राह्मणों का सबसे अधिक महत्त्व इस बात में हैं कि सुप्रसिद्ध उपनिषद् इन्हीं के अंतिम भाग हैं। ये उपनिषद् ही वेदों में निहित तत्त्व-ज्ञान के निचोड़ हैं। एकाध को छोड़कर समस्त उपनिषद् ब्राह्मणों के आरण्यक नामक भागों के अंश हैं। यद्यपि इस समय लगभग १०८ उपनिषदों के नाम मिलते हैं, किन्तु उनके सबसे महान् भाष्यकार श्री शंकराचार्य ने केवल निम्न १६ उपनिषदों को ही प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण माना है—(ऋग्वेद के) ऐतरेय और कौषितकि; (कृष्ण

यजुर्वेद के) कठ, तैत्तिरीय, कैवल्य, श्वेताश्वतर और नारायण, (शुक्ल यजुर्वेद के) ईश, बृहदारण्यक, और जाबाल; (सामवेद के) केन और छांदोग्य; और (अथर्ववेद के) प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य और नृसिंहतापनी। इनमें से स्वयं शंकर ने केवल ग्यारह पर ही भाष्य लिखा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से संहिताएँ सबसे पहले बनीं, उनके बाद क्रमशः ब्राह्मणों की रचना हुई और उपनिषद् उनसे भी बाद के हैं। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों को १४००-१५०० ईस्वी पूर्व के मानते हैं, किन्तु स्वर्गीय लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, दीक्षित, वैद्य आदि भारतीय विद्वानों ने वेदों की ज्योतिष-संबंधी महत्त्वपूर्ण अंतरंग साक्षी द्वारा दृढ़तापूर्वक यह सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त ईसा से कम से कम ४५०० वर्ष पूर्व के, शतपथ ब्राह्मण ३००० ई० पू० का, और प्राचीनतम उपनिषद् कम से कम २५५० ई० पू० के हैं। अपनी हठधर्मिता के कारण पाश्चात्य विद्वान् अब भी वैदिक साहित्य को इतना प्राचीन नहीं मानते, यद्यपि तिलक और दीक्षित की युक्तियों का उनके पास कोई उत्तर नहीं है। हाँ, जर्मन पंडित जैकोबी अवश्य अपने स्वतंत्र अनुसंधान द्वारा इस नतीजे पर पहुँचा है कि ऋग्वेद कम से कम ४००० ई० पू० का है।

कुछ भी हो इसमें तो संदेह नहीं कि जिन दिनों आधी से अधिक दुनिया अँधेरे ही में थी, उस पुरातन युग में ही भारतीय आर्य्य संस्कृति की उच्च भूमिका पर पहुँच चुके थे। वेदों में अंकित उनकी जीवन-धारा और विचार-धारा के चित्र इसके सजीव प्रमाण हैं। क्या समाज-संगठन और नैतिक आदर्श, तथा कला-कौशल, साहित्य-संगीत, या तत्त्व-चिन्तन—सभी बातों में वे फूले फले बढ़े हुए थे। वास्तव में जिस सभ्यता का परिचय हमें उनकी कृतियों में मिलता है वह एक प्रारम्भिक उदय होती हुई सभ्यता नहीं, बल्कि उस समय में परिपक्व और पहुँची हुई सभ्यता थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सहज में ही यह और स्पष्ट समझा जा सकता है कि उपनिषदों में आकर वैदिक आर्यों ने जिस तत्त्वज्ञान का परिचय दिया उसके बीज सूत्र रूप में ऋग्वेद के सूक्तों में ही विद्यमान थे। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त या नासदीय सूक्त की ऊँचाई को नाप कर इस कथन की सचाई का निर्णय किया जा सकता है। क्या नासदीय सूक्त के ऋषि की निम्न चुनौती का आज तक कोई संतोषजनक उत्तर देने में समर्थ हो पाया है—

"कौन जानता है और कौन कह सकता है इसे ? कहाँ से यह सृष्टि पैदा हुई ? कहाँ से यह आई ? देवगण भी तो इसके बाद के हैं ! कौन जानता है, पहले-पहल यह कहाँ प्रकट हुई ! यह किसी के द्वारा बनाई भी गई या नहीं ? वह जो परम अन्तरिक्ष से साक्षी की तरह इसे देखता है जानता होगा। अथवा कह नहीं सकते कि वह भी जानता है या नहीं !"[*]

इसी महान् प्रश्न की प्रतिध्वनि हिरण्यगर्भ सूक्त के इस भावमय संगीतमय प्रश्न में है कि "हम किस देवता के प्रति अपनी हवियों का विसर्जन करें ?"[†] यद्यपि वैदिक आर्य्यों ने अग्नि, वरुण, इन्द्र, सोम, सूर्य, उषा, रुद्र आदि विविध देवताओं के गीत गाए हैं, किन्तु उन सब में उन्होंने एक ही परम शक्ति को देखा है। "वह एक ही है, केवल विप्रगण (विद्वान् लोग) उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।"[‡] ऋग्वेद का यही स्पष्ट एकेश्वरवाद उपनिषदों में आकर उस अद्वैतवाद की ऊँचाई पर पहुँच गया, जिससे ऊपर मानव मस्तिष्क नहीं उठ पाया है। उपनिषद् 'वेदान्त' अर्थात् वेद के अंतिम भाग कहकर अभिहित किए जाते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि ये वेदों में निहित ज्ञान के सार हैं। उपनिषदों की सारी छान-बीन और खोज का निचोड़ इस प्रश्न में है—"वह कौन-सी वस्तु है जिसे जान लेने पर सब-कुछ जान लिया जाता है ?"[§] और भिन्न-भिन्न रीति से इस प्रश्न का एक ही यह उत्तर हम विभिन्न उपनिषदों में पाते हैं कि वह वस्तु 'ब्रह्म' है। यथार्थ में "सब-कुछ ब्रह्म

---

* देखो, ऋग्वेद संहिता (१०।१२९।६-७)।

† "कस्मै देवाय हविषा विधेम" (ऋ० सं० १०।१२१)।

‡ "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ० सं० १।१६४।४६)

§ देखो, मुंडक उपनिषद् (१।१।३)।

ही है।"○ "इससे ही सब कोई पैदा होते, इसमें ही रहते, और इसी में वापस लौटकर लीन हो जाते हैं।"× इस "ब्रह्म" को जानने में ही जीवन की सार्थकता है। "इसको जानने से ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है, इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।"+ किंतु यह 'ब्रह्म' है क्या वस्तु? "यह न तो स्थूल है न सूक्ष्म, न लघु है न दीर्घ, न रक्तिम है न आर्द्र, न छाया है न अंधकार, न वायु है न आकाश, न स्वाद है न गंध; नेत्र और कर्ण, वाणी और मन, प्राण और मुख, भीतर और बाहर से रहित यह वस्तु न तो किसी का भक्षण करती और न किसी के द्वारा भक्ष्य ही है।" * तब यह अद्भुत वस्तु है क्या? उपनिषद् इसका उत्तर देते है कि 'वह तू ही है', 'मै ही (वह) ब्रह्म हूँ', 'यह आत्मा ही वह ब्रह्म है।'† अतएव सब बातों का सार यही है कि इस 'आत्मा को ही पहचानो।'‡

इस एक ही विचार को उपनिषदकारों ने विभिन्न रीतियो से, तरह-तरह की मनोरंजक आख्यायिकाओ और उदाहरणों द्वारा ऐसे सरल ढंग से समझाया है, उनकी वर्णनशैली इतनी रोचक और भाषा इतनी ओजस्वी है कि पाश्चात्य विद्वान् भी एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि संसार की विचार-धारा के इतिहास में वे बेजोड़ हैं। जर्मनी का प्रसिद्ध निराशावादी तत्त्वचिंतक शोपेनहार तो आज से सौ साल पहले उपनिषदों के एक भ्रष्ट अनुवाद ही को देखकर इतना प्रभावित हुआ था कि उसके मुँह से निम्न उद्‌गार निकल पड़े थे—"अहो उपनिषद्, तुम ही मेरे जीवन की सांत्वना हो, और तुम ही मृत्यु मे भी मुझे सांत्वना दोगे।" उसका कहना था कि "उपनिषद् मानव ज्ञान और बुद्धि के सर्वोत्कृष्ट फल है, उनमें अतिमानवीय विचार भरे पडे है, जिनके जन्मदाताओं को निरे मनुष्य ही मानना कठिन है!" निस्संदेह उपनिषद् विश्व-वाङ्मय के अमर रत्न हैं। भारत की तो सारी दार्शनिक विचारधारा के आदि स्रोत वही हैं। यदि संहिताओ में हमें सरल-हृदय कवियो के दर्शन होते हैं और ब्राह्मण-ग्रंथों में यज्ञीय क्रिया-कलाप में निपुण ऋत्विजो के, तो उपनिषदों में आकर अद्वितीय तत्त्वचिंतक दार्शनिको से हमारा साक्षात्कार होता है। ऋग्वैदिक ऋषियों का दैवी संगीत स्वच्छंद पहाड़ी झरने के अबाध कलकल निनाद जैसा था। किन्तु उपनिषद्-काल में आकर हमारे पूर्वजों के विशाल भाल पर चिन्ता की रेखाएँ मानो पहले से कहीं अधिक गहरी खिच गई। वे गहन विचार में निमग्न हो गए और बाहर की अपेक्षा उन्होने अब भीतर अधिक छान-बीन करना शुरू किया। जिसे उन्होंने बाहर विराट् रूप में देखा था, उसी का सूक्ष्म अनन्त रूप उन्हें भीतर देखने पर आत्मा में दिखाई दिया। इस आत्मा में ही उन्हें सारे विश्व की कुंजी मिल गई और उन्होने यह घोषित कर दिया कि इसका ही दर्शन करना चाहिए, इसको ही सुनना चाहिए, इसका ही मनन करना चाहिए और इसे ही जानना चाहिए।*

वैदिक साहित्य में, विशेषकर ऋग्वेद मे, यहाँ-वहाँ बिखरे हुए ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं, जिनके आधार पर हम तत्कालीन इतिहास की कुछ कड़ियाँ जोड़कर वैदिक आर्य्यों की सामाजिक और सांस्कृतिक दशा का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। यह तो निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन आर्य्य इस देश में कब और कहाँ से आकर बसे, किन्तु इस बात का स्पष्ट आभास मिलता है कि उन्होंने इस भूभाग में बसनेवाली आदिम जातियो पर विजय प्राप्त कर अपनी सभ्यता का झंडा इस देश में फहराया था। ऋग्वेद के तीसरे मंडल के ५३वें सूक्त मे 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्' इस पंक्ति से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में ही इस देश के आर्य्य 'भारत जन' के नाम से पुकारे जाने लगे थे। इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम आगे चलकर 'भारत' या 'भारतवर्ष' पड़ा। ये उन्नत ललाट, उठी हुई नासिका और लंबे कद के गौर वर्ण वाले लोग थे, जो अपने विरोधी अनार्य्यों को 'दास' या 'दस्यु' कहा करते।

○ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छांदोग्य उप० ३।१४।१); × तैत्तिरीय उप० (३।१); + कठ उप० (६।१५), श्वेताश्वतर (३।८); * बृहदारण्यक उ० (३।८।८); † 'तत्त्वमसि' (छांदोग्य उप० ६।८।७); 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक उप० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप० २); ‡ 'आत्मानं विद्धि'।

* दे० बृहदारण्यक उप० (२।४।५; ४।५।६)।

ऋग्वेद में जहाँ हमें आर्य्यों और अनार्य्यों के अनवरत संघर्ष का युग दिखाई पड़ता है, वहाँ अथर्ववेद के संकलन के समय तक आते-आते हम प्रायः दोनों जातियों को परस्पर एक-दूसरे की संस्कृति के साथ समझौता कर रहते देखते हैं। परंतु इस समझौते ने जहाँ असभ्य अनार्य्य जाति के धर्म को ऊँचा उठाया, वहाँ स्वयं वैदिक धर्म उसके संसर्ग से संभवतः दूषित और कुप्रभावित ही हुआ। अथर्ववेद में निरूपित जादू-टोना, मंत्र-अभिचार आदि की भरमार का यही कारण प्रतीत होता है।

वेदों के अनुशीलन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि उस युग में इस देश के लोगों का जीवन उच्च कोटि का सुसंस्कृत और परिमार्जित था। संगीत और साहित्य में भी वैदिक आर्य्य बहुत आगे बढ़ गए थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में—विशेषकर उनमें जो उषा को संबोधित कर लिखे गए हैं—हमें ऐसी सुन्दर काव्य-रचना और मधुर कल्पना के उदाहरण मिलते हैं जो संसार के किसी भी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट गीति-काव्य के समकक्ष रक्खे जा सकते हैं। संगीत की दृष्टि से तो उनका एक पूरा वेद ही—सामवेद—यज्ञों के समय गाए जानेवाले गीतों से भरा है। उनकी भाषा प्राचीन संस्कृत थी, और उपनिषदों के युग तक आते-आते तो उन्होंने इस भाषा में इतना लोच पैदा कर लिया था कि गहन से गहन विचारों को भी वे सरलतापूर्वक थोड़े-से शब्दों में व्यक्त कर देते थे। सामाजिक जीवन में वे यद्यपि कठोर अनुशासन के प्रेमी थे, किंतु स्त्री-पुरुष सभी स्वच्छंदतापूर्वक मिलते-जुलते थे। स्त्री परिवार की स्वामिनी मानी जाती थी। उसे समाज में आदर का स्थान प्राप्त था और पति के साथ समस्त धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानों में बराबरी से भाग लेने का अधिकार था। ऋग्वेद के विवाह-संबंधी सूक्त से हमें उस मधुर भाव की झलक मिलती है जो दम्पत्ति के पारस्परिक संबंध में उन दिनों निहित था।

इनके जीवन के प्रत्येक अंग की नींव डालनेवाले वे अनेक पुरुष हुए जो व्यक्तिगत विज्ञापन के प्रति इतने उदासीन थे—उन्हें अपने विचारों और कृतियों से ही इतनी लगन थी कि अपने वैयक्तिक जीवन के बारे में वे बहुत ही कम ज्ञान छोड़ गए हैं। उनकी यशोगाथा उनकी कृतियों में ही अंकित है। किन्तु वह यशोगाथा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं वरन् समष्टि रूप से उन सभी विदित और अविदित राष्ट्र-नायकों और प्राज्ञ मनीषियों की कीर्त्ति-कथा है, जिन्होंने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व इस पवित्र भूमि में संस्कृति का प्रथम बीजारोपण करने में भाग लिया था—जिन्होंने भारतवर्ष, उसकी सभ्यता, उसकी राष्ट्रीयता, उसकी समाज-व्यवस्था, उसकी कला, वाङ्मय और धर्म की पहले-पहल नींव डाली थी। उनकी कृतियों से पग-पग पर यही आभास हमें मिलता है कि उनकी सर्वोपरि चिन्ता हर प्रकार से व्यक्ति और जाति के जीवन को सर्वाङ्ग-संपूर्ण बनाना ही थी। आर्य्य लोग एक विजेता जाति के लोग थे। अतएव स्वभाव से ही वे आशावादी थे। ऋग्वेद में हम कहीं भी ऐसा संकेत नहीं पाते जिससे यह प्रकट होता हो कि वैदिक आर्य्य इस संसार से विमुख हो उससे भागना चाहते हो। यह सच है कि वे परलोक के सुख की प्रशंसा के गीत गाते थे, किन्तु साथ ही इस दुनिया के सुख-दुःख से भी वे विमुख नहीं थे। वे थोथे परलोकवादी न थे। इस जीवन में ही वे अपने आदर्शों को मूर्त्तिमान् बनाने की आकांक्षा रखते थे। अश्वमेध यज्ञ के समय की उनकी निम्न प्रार्थना से हमें उनकी जातीय हित-चिन्ता का स्पष्ट आभास मिलता है—

"हे भगवन्, इस राष्ट्र में ज्ञान के तेज से युक्त ब्राह्मण, और शूरवीर महारथी धनुर्विद्या-विशारद क्षत्रिय जन्म लें। खूब दूध देनेवाली गाएँ जन्में। भारी बोझ खींचनेवाले बैल और तीव्रगामी घोड़े पैदा हों। लावण्यमयी ललनाएँ और सभाओं में संमिलित होने योग्य विजयाकांक्षी रथी युवक जन्म लेते रहें। यजमानों के वीर पुत्र पैदा हों। जब कभी हम चाहें जल बरसे। हमारे वनस्पति, धान्य आदि खूब फूलें-फलें, और हम सब योग-क्षेम (समृद्धि और कुशलता) से सम्पन्न हों!"

आज से हज़ारों वर्ष पूर्व इन्हीं शब्दों में हमारे पूर्वज अपनी और अपने राष्ट्र की हित-कामना के लिए आराधना करते थे। आज भी इससे बढ़कर हमारे लिए दूसरा राष्ट्रीय गान नहीं हो सकता!

वाल्मीकि

जाति के जीवन में जब संस्कृति की नई बाढ़ आती है, तब उसकी प्रतिभा आरंभ में सहस्रमुखी फुटकर धाराओं के रूप में उच्छ्वसित होकर अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती है—उन दिनों उसका प्रस्फुटन असाढ़ के पहले पानी के साथ धरती में से रातोंरात फूट निकलनेवाली विविध अंकुरों से युक्त हरियाली जैसा होता है। किन्तु इसके द्वारा उसकी भूख नहीं मिट पाती। वह क्रमशः हवा में यहाँ-वहाँ उड़ती हुई शत-शत विरल भावनाओं को बटोरकर, उनका समन्वय कर, उन्हें मूर्त्त बनाकर विराट् भाव से अपने आपको व्यक्त करने के लिए आकुल हो उठती है। उसकी यही विराट् रूप में प्रकट होने की भावना जहाँ कला के क्षेत्र में मिस्र के पिरामिड, अजन्ता के कलामण्डप, एथेन्स के पार्थेनन, या एलोरा के भास्कर्य-मंदिर जैसी कृतियों में साकार बन जाती है, वहाँ साहित्य के पावन प्रदेश में आकर रामायण, महाभारत, इलियड और ओडेसी जैसे उन महाकाव्यों को जन्म देती है, जिनमें जाति के समस्त आधारभूत आदर्श केन्द्रित होकर मूर्त्त रूप ग्रहण कर लेते और एक चिरस्थायी प्रकाश-स्तम्भ की भाँति चिरकाल तक उसका मार्ग-प्रदर्शन करते हुए उसे नवीन शक्ति से अनुप्राणित करते रहते हैं।

वैदिक काल में आर्य संस्कृति के प्रस्फुटन के बाद भी ऐसा ही एक समय आया जब जातीय आदर्शों को साहित्य में मूर्त्त रूप देकर चिरस्थायी बना देने की कामना बलवती हो उठी। किन्तु इन आदर्शों को किसकी मूर्त्ति में प्रतिष्ठित कर प्रस्तुत किया जाय, देव या मानव की? कौन उन्हें अधिक सजीव बना पाएगा? देव-युग तो बीत चला था, पर मानव भी तो अभी जातीय यज्ञ-मंडप में सर्वोपरि आसन पर प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था। फिर किसकी कसौटी पर इन आदर्शों को कसा जाय? मनुष्यों में कौन इतना पूर्ण है, किसमें इन आदर्शों का इतना सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण विकास हो पाया है कि उसकी ओर संकेत कर समस्त जाति से कहा जाय—देखो, यही है

आदर्श मानव ; यही है पूर्ण मानव ; इसके ही चरित्र में हमारे आदर्श यथार्थ में चरितार्थ हो पाए हैं ? देव-युग और मानव-युग की संधि-रेखा पर खड़े होकर यही प्रश्न पहले-पहल वाल्मीकि ने पूछा था—"कौन इस समय लोक में यथार्थ में गुणी, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रती, चरित्रवान्, सबका हितकारी, विद्वान्, समर्थ, सुंदर, आत्मवान्, क्रोध पर विजय पानेवाला, तेजस्वी और अछिद्रान्वेषी है ? कौन ऐसा है, युद्धक्षेत्र में जिसके रोष को देखकर देवता भी भय खाते हों ?"* और उन्होंने ही राम के चरित्र के रूप में इसका उत्तर भी संसार के आगे प्रस्तुत कर दिया। क्या तुम आदर्श पुत्र, भ्राता, मित्र, शासक, मनुष्य—सभी कुछ एक में देखना चाहते हो; क्या तुम्हें जीवन में सत्य और धर्म का जीता-जागता उज्ज्वल उदाहरण देखने की उत्कंठा है ? तो लो, राम का चरित्र परखो; इसकी ऊँचाई के पैमाने पर अपने जीवन को नापने का यत्न करो। राम की कथा देव के रूप में प्रतिष्ठित होने जा रहे मानव की अमर गाथा है। देव-युग को आज से अंतिम अध्याय लग चुका—अब मानव-युग का प्रारंभ है। अब तक तुम्हारी पुकार थी—'हम किस देवता के प्रति अपनी हवियो का विसर्जन करें ?'§ आज से उस प्रश्न को इस नवीन प्रश्न में बदल देना होगा—हम जीवन में किस महामानव के चरित्र को अपना मानदण्ड बनावें ? किसके उज्ज्वल चरित्र से उन जातीय आदर्शों के मंत्र की दीक्षा लें, जो हमें असत्य से सत्य, अंधकार से प्रकाश और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने में समर्थ होंगे ?

मानव को देव की ऊँचाई पर प्रतिष्ठित कर वाल्मीकि ने इस प्रकार जिस मानवमूलक धर्म का उद्घाटन किया, कृष्ण द्वैपायन व्यास के युग तक आते-आते उसे भारतीय विचारधारा में सर्वोपरि स्थान मिल गया। "यह गुह्य रहस्य तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से बढ़कर और कुछ भी नहीं है",† व्यास के ये अमर शब्द उसी नूतन क्रान्ति की पूर्ति के सूचक हैं, जिसका सूत्रपात वाल्मीकि द्वारा हुआ था। क्रमशः इन्द्र, वरुण, मित्र आदि ऋग्वैदिक देवता मानों रंगभूमि से नेपथ्य की ओर हट गए और उनके बदले भारतीय क्षितिज पर आदर्श चरित्र से युक्त राम और कृष्ण की अद्वितीय मानव-मूर्त्तियाँ प्रकट होकर कालान्तर में जाति के हृदय-मंदिर में सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठापित हो गईं। भारतीय इतिहास में यह एक नवीन युगान्तर की सूचना थी। वाल्मीकि और व्यास के अमर स्मारक—रामायण और महाभारत—इसी महत्त्व-पूर्ण युग-परिवर्त्तन के कीर्त्ति-स्तम्भ हैं !

होमर, कालिदास, शेक्सपीयर आदि विश्व-कवियों की तरह वाल्मीकि के भी पार्थिव जीवन का कोई ऐतिहासिक वर्णमाला में लिखा हुआ लेखा हमें आज दिन उपलब्ध नहीं है—केवल जनश्रुति में प्रचलित किंवदंतियों के ही आधार पर हम उनकी जीवनी की कुछ कड़ियाँ जोड़ पाते हैं। यह सच है कि इन दंतकथाओं में ऐतिहासिक तथ्य प्रायः भावनाओं से अतिरंजित रहता है, फिर भी उनमें सत्य का बीज तो है ही। उस सत्य को लोगों ने देखा और भावनाओं की पुट देकर इन आख्यायिकाओं के रूप में संसार के सामने रख दिया। कवि भी तो यही करता है—स्वयं वाल्मीकि ही ने क्या किया ? इसी प्रकार की एक भावप्रधान प्रसिद्ध किंवदंती के अनुसार वाल्मीकि आरंभ में एक निर्दय डाकू का जीवन व्यतीत करते थे—उन दिनों उनका नाम रत्नाकर था। अपने डाकू-जीवन में ही एक दिन उनका कुछ प्रज्ञाचक्षु महर्षियों से साक्षात्कार हुआ और उस क्षण भर के संसर्ग ने ही उनकी जीवनधारा को सदा के लिए पलट दिया। वह एक डाकू से ऋषि बन गए ! मानवता से द्रोह के बदले मानव की हित-चिन्ता ही उस दिन से उनका व्यवसाय हो गया। महापुरुषों के आविर्भाव की, यथार्थ में, यही रीति है। वे पुच्छल तारों की तरह प्रकट होते हैं और एकाएक अपनी ज्योति से संसार को चकाचौंध कर देते हैं। वाल्मीकि जैसा अद्वितीय पुरुष भी और किसी रीति से हमारे समक्ष नहीं आ सकता था, इसीलिए, संभवतः, जनसाधारण ने मधुर भावनाओं से रंजित कर उनके जीवन की इस गाथा को गढ़ डाला। माना कि इतिहासकार

* दे० वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, (१।२-४)
§ 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (ऋग्वेद १०।१२१)
† देखो, महाभारत, शांति-पर्व, (१८०।१२)

के 'कब', 'कौन', 'कहाँ' का संतोषजनक उत्तर ऐसी गाथाओं में नहीं मिलता, परंतु यह तो इनसे झलकता ही है कि आगे आनेवाली पीढ़ियों ने इनमें वर्णित अपने महान् पूर्वजों को किन आँखों से देखा है।

वाल्मीकि के हृदय-स्रोत से काव्य का निर्झर किस प्रकार पहलेपहल उच्छ्वसित हुआ, इस संबंधी गाथा तो और भी मार्मिक है—वह स्वयं एक कविता है। जिन दिनों कवि के हृदय-तल में वाष्पीभूत नीहारिका की भाँति शत-शत भावनाएँ राम-कथा का सृजन करने के प्रयास में कुण्डलाकार घूम रही थीं, उन्हीं दिनों आश्रम के समीप तमसा के तट पर स्नान के लिए जाते हुए एक दिन अनायास ही करुणा के रूप में उनकी काव्य-धारा के प्रथम स्वर फूट निकले। प्रणय के मधुर व्यापार में लीन क्रौंच पक्षी का एक जोड़ा नदी-तट के निभृत कुञ्ज में कलरव कर रहा था। वन की शोभा निरखते हुए वाल्मीकि भी नदी के घाट की ओर से उधर ही आ निकले। उनके देखते-ही-देखते वृक्षों की ओट से किसी निष्ठुर व्याध ने छिपकर एक बाण मारा और निरपराध क्रौंच रक्त में लथपथ हो धरती पर लोटपोट हो गया। प्रणय का मधुर कलरव चिरवियोग की वेदनाभरी चीत्कार में परिणत हो गया। धरती पर मरणासन्न पक्षी के परों की फड़फड़ाहट और समीप ही चीं-चीं करती हुई उसकी अबला संगिनी के विलाप का यह दृश्य किस सहृदय को द्रवीभूत न कर देता! वाल्मीकि थर्रा उठे—उन निर्दोष पक्षियों के साथ-साथ निष्ठुर व्याध ने मानो ऋषि के करुणा-सिंचित मानव-हृदय को भी बींध दिया! ऋषि की करुण भावना अन्यायी व्याध के प्रति अब सहज ही रोष का रूप धारण कर बरस पड़ी और उनके मुख से अनायास ही निम्न श्लोक निकल पड़ा—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥" *

ऋषि ने ये शब्द कह तो डाले, किन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें विस्मय हुआ कि व्याध पर उँडेले गए इस अभिशाप के स्वरों में यह विचित्र वर्ण-विन्यास, यह अनोखा धारा-प्रवाह, यह विलक्षण रागिनी का स्वर कैसा? कवि स्वयं अपनी कविता पर चकित था! "पक्षी की व्यथा से आकुल हो मैंने यह क्या कह दिया?†" ऋषि के विशाल भाल पर सदैव खिंची रहनेवाली चिन्ता की रेखाओं में मानों विस्मय के सम्मिलन से और भी बल पड़ गया। उन्हें मन-ही-मन कुछ कुतूहल हुआ, कुछ उछाह भी। बार-बार वह इन्हीं दो पंक्तियों को गुन-गुनाने लगे। उनके मस्तिष्क में इधर-उधर बिखरे हुए शत-शत भाव घनीभूत हो इसी छंद के स्वरों में पंक्तिबद्ध हो अब एक के बाद एक आँखों के आगे थिरकने लगे। जो भी विचार उठता आप-ही-आप इस छंद की सुनिश्चित मात्राओं में बँधकर मूर्त्तिमान् हो जाता। कवि को अपनी उमड़ती हुई प्रतिभा और काव्यधारा को अभिव्यक्त करने का मानो एक सहज साधन मिल गया, और क्रमशः सारी राम-कथा को इसी नवीन श्लोक की लड़ियों में उन्होंने गूँथ डाला।*

क्या भारतवर्ष को आज रामायण और श्रीराम-चंद्र का भी परिचय देने की आवश्यकता है? चाहे वेद, पुराण, महाभारत का नाम बहुतेरों को ज्ञात न हो, पर रामायण तो पुण्यसलिला गंगा की तरह पढ़े-लिखे और अनपढ़ सभी का तीर्थ है। वस्तुतः रामायण इस देश के लिए एक वरदान के तुल्य है, क्योंकि उसने उस धर्म के तत्त्व को साधारण जनता के लिए भी बोधगम्य और सुलभ बना दिया है, जो अन्यथा वेदों, उपनिषदों या धर्मसूत्रों की गहरी खदान में केवल गिने-चुने विद्वानों और पंडितों द्वारा ही खोजने पर पाया जा सकता था। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही कहा है कि भारत ने रामायण मे जो चाहा वही पाया है। रामायण को हमारे यहाँ 'आदिकाव्य' कहकर पुकारा जाता है और इसी नाते वाल्मीकि संस्कृत साहित्य में 'आदि कवि' माने गए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वाल्मीकि से पहले इस देश में कविता थी ही नहीं या कोई कवि ही न हुआ था। हम देख चुके हैं कि ऋग्वैदिक युग में किस प्रकार काव्य के रूप में इस देश की आरंभिक प्रतिभा

---

* दे० वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड (२।१५)।

† बालकाण्ड (२।१६)।

* वाल्मीकीय रामायण में और भी अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है, परन्तु अधिकांश अनुष्टुप् श्लोक ही हैं।

प्रस्फुटित हुई थी। रामायण को आदिकाव्य केवल इसीलिए कहा जाता है कि उसमें ही हमें पहले-पहल संस्कृत की व्यावहारिक भाषा में लौकिक छंदबद्ध काव्य का दर्शन होता है। परंतु रामायण केवल आदिकाव्य ही नहीं है, वह इस देश का सर्वप्रथम 'महाकाव्य' भी है। विषय की महानता, चमत्कारपूर्ण कथानक, तथा देश और काल का घटनाओं के साथ सामंजस्य, इन सभी बातों का सुन्दर समन्वय रामायण में है। संस्कृत के तो आगे आनेवाले सभी कवियों के आदिगुरु वाल्मीकि ही हैं। यही कारण है कि 'मधुमय भणतीनां मार्ग-दर्शी महर्षि' कहकर उनकी आरती उतारी गई है।

वाल्मीकीय रामायण जिस रूप में आज मिलती है उसमें बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध और उत्तर नामक सात काण्ड हैं, जिनमें कुल मिलाकर लगभग २४ हज़ार श्लोक पाए जाते हैं। किंतु जेकोबी, वेबर, विंटरनीज़ आदि पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि इनमें प्रथम और अंतिम काण्ड निश्चित रूप से बाद को जोड़े गए हैं, वे मूल में वाल्मीकि द्वारा कदापि नहीं रचे गए होंगे। इन विद्वानों का बहुमत मूल रामायण को ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचना मानने के पक्ष में है, किन्तु यह स्वीकार किया जाता है कि दूसरी शताब्दी ईस्वी के अंत तक रामायण अपने आधुनिक रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यहाँ हम तिथि आदि संबंधी पंडितों के इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते, किन्तु यह तो कहना ही होगा कि वाल्मीकि और रामचन्द्र इन दोनों के नाम इस देश की अनुश्रुति में अति प्राचीन हैं। ऋग्वेद में भी वेण आदि राजाओं के साथ राम का उल्लेख आया है। महाभारत में तो रामोपाख्यान के रूप में संक्षिप्त में सारी राम-कथा ही दे दी गई है और एक स्थल पर तो 'वाल्मीकि द्वारा गाया गया' एक श्लोक ही उद्धृत है जो ज्यों-का-त्यों रामायण में पाया गया है। इन सब बातों से यह संकेत मिलता है कि राम और वाल्मीकि दोनों अति प्राचीन काल में इस देश में हुए थे, वे ऐतिहासिक पुरुष ही थे और महाभारत के युग से पहले के थे तथा महाभारत के निर्माण के बहुत पहले ही रामायण की रचना हो चुकी थी।

राम और वाल्मीकि का युग भारत का स्वर्ण-युग था, यहाँ तक कि 'राम-राज्य' शब्द हमारे यहाँ आदर्श राज्य का प्रतीक बन गया है। किन्तु एक आदर्श शासक से भी अधिक राम एक आदर्श मानव थे, और इसी रूप में वाल्मीकि ने रामायण में मुख्यतः उनका चित्र अंकित किया है। प्राचीन काल से आर्य्य-भूमि के तपोनिष्ठ विचारक जिस सत्य-संध धर्मप्राण मानव का स्वप्न देख रहे थे वह उस युग में आकर राम के रूप में साकार बन गया था। अपने कठोर मर्यादा-पालन के कारण ही आज राम की 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहकर वंदना की जाती है। जब दशरथ ने राम को युवराज-पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रस्ताव किया और उस संबंध में जनता के प्रतिनिधियों से राम के बारे में राय माँगी, तब प्रजाजनों ने जिन शब्दों में राम का गुण-वर्णन किया है उनसे हमें उनकी ऊँचाई की कुछ माप मिल सकती है। रामायण में और भी आदर्श चरित्र अंकित हैं, किन्तु राम मानों इन सबमें सुमेरु के समान हैं। उनमें विविध मानवोचित आदर्श गुणों का सम्मिलन ही उन्हें हमारी निगाह में मानव से महामानव बना देता है। निश्चय ही यही पिछले हज़ारों वर्षों से इस देश में राम के एक आदर्श अलौकिक महापुरुष के रूप में पूजे जाने का रहस्य है।

भारत को वाल्मीकि की सबसे बड़ी देन यही है कि उन्होंने हमें राम दिया। यदि वाल्मीकि न होते तो आज हम अपने उन्नत आदर्शों के लिए किसका सहारा लेते? रामायण में भारतीय गृहस्थ-जीवन का जो आदर्श चित्र अंकित है, वह हमें अन्यत्र कहाँ मिलता? कहाँ हम सीता, सुमित्रा, भरत और लक्ष्मण से परिचय पाते और किसके आधार पर कालिदास, भवभूति, तुलसी आदि अपनी काव्य-गंगा प्रवाहित करते? कौन हमारे जातीय जीवन में 'चरित्र' की महत्ता को इतनी उज्ज्वल रेखाओं में अंकित कर पाता? वाल्मीकि हमारे जातीय जीवन के प्रमुख विधायकों में से हैं। युग-युग से भारतीय गृह-जीवन में धर्म और प्रेम से अभिसिक्त जो मधुर बंधन का भाव पाया जाता है, उसका अधिकांश श्रेय रामायण और उसके रचयिता प्रातः-स्मरणीय वृद्ध महामुनि वाल्मीकि को ही है।

कृष्ण द्वैपायन व्यास

महाकवि, संपादक, दार्शनिक, विश्वकोश के निर्माता, धर्म-प्रणेता, समाज-विधायक, राजनीतिज्ञ और संत कृष्ण द्वैपायन व्यास एकबारगी ही इतने विचित्र और महान् हैं कि उनका कोई भी एक चित्र उनका पूरा चित्र नहीं कहा जा सकता। व्यास का नाम लेते ही हमारी आँखों के सामने एक साथ ही वेद, महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र और पुराणों का चित्रपट खिंच जाता है। जिस एक ही व्यक्ति के नाम के साथ इतनी व्यापक और विलक्षण कृतियों का संबंध हो, उसकी ऊँचाई और बहुमुखी प्रतिभा का माप लेना कोई सरल काम नहीं है। बड़ा ही अद्वितीय था व्यास का व्यक्तित्व। वह न केवल अपने ही देश और युग के बल्कि सारे संसार के इतिहास में सर्वतोमुखी प्रतिभा के सबसे बड़े विद्वान् हुए हैं। उनकी कोटि का दूसरा मस्तिष्क फिर संसार में शायद ही कहीं पैदा हुआ होगा। भारतीय शब्दावली में व्यास ब्राह्म-धर्म के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं—उनके व्यक्तित्व में जाति और राष्ट्र के जीवन और संस्कृति का निर्माण करनेवाली सभी शक्तियाँ मानों एक साथ ही आकर केन्द्रीभूत हो गई थीं। व्यास का काम, जैसा उनके नाम से ही प्रकट है, जाति की उस समय तक की सारी तितर-बितर कमाई को बटोरकर एक व्यवस्थित रूप देना था। उन्होंने न केवल वेदों का उचित वर्गीकरण ही किया, बल्कि हमारी संस्कृति के सारे कलेवर को सवार-सुधारकर परिमार्जित कर दिया। इस प्रकार जाति में उन्होंने मानों नवीन प्राणों का संचार कर दिया। यह भगीरथ कार्य व्यास जैसे समर्थ विद्वान् के ही बस का काम था—और किसी को तो इसमें हाथ डालने का भी संभवतः साहस न होता! व्यास हमारे जातीय गगन के मध्याह्नकाल के सूर्य हैं। उनकी प्रखर प्रतिभा ने जिन ज्वलंत आदर्शों की सृष्टि की वे चिरकाल के लिए आर्य्य-जाति के जीवन में विराट बनकर समा गए हैं।

आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व कालिन्दी के अंचल में स्थित एक छोटे-से द्वीप पर एक मछुए की कन्या के गर्भ तथा पराशर मुनि के वीर्य से व्यास ने जन्म लिया था।* शरीर का वर्ण काला होने के कारण इनका नाम 'कृष्ण' रक्खा गया था और द्वीप में पैदा हुए थे अतएव "द्वैपायन" कहकर भी वह पुकारे जाते थे। कालिन्दी का दुकूल, मालूम होता है, उन दिनों महापुरुषों की उपज के लिए विशेष रूप से उर्वर था; क्योंकि उसी युग में यमुना ही की गोद में एक और महामानव इस देश में अवतीर्ण हुआ था, जो कालान्तर में हमारा हृदय-सम्राट् बन गया। संयोग की बात है कि उसका भी नाम 'कृष्ण' ही था। इन दोनों महापुरुषों ने मिलकर इस देश की जीवनधारा को जो नवीन बल और ओज दिया उससे आज भी हम अनुप्राणित हैं। आज भी गीता और महाभारत हमारे सबसे अधिक दीप्तिमान् प्रकाशस्तम्भ हैं। गीता में तो इस देश का ही नहीं, सारी मानव-जाति की मुक्ति का रहस्य छिपा है। इस दृष्टि से देवकीपुत्र और द्वैपायन कृष्ण भारत की सीमाओं को लाँघकर मानो विश्व की संपत्ति बन गए हैं। अचरज नहीं यदि भौतिकवाद की भूलभुलैया में भटक रहा मानव कालिन्दी के कछार में आविर्भूत पाँच हज़ार वर्ष पूर्व के इन एक ही नामधारी युगल महापुरुषों की वाणी में ही अंततः परित्राण पा सके।

भारतीय परंपरा के अनुसार भिन्न-भिन्न कल्पों में वेदों का संग्रह और विभाग करनेवाले अट्ठाईस व्यासों के नाम हमें मिलते हैं। इनमें अंतिम अर्थात् अट्ठाईसवाँ नाम पराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन का है। इसमें संदेह नहीं कि यह अद्वितीय महापुरुष एक ऐतिहासिक व्यक्ति ही थे और वैदिक काल में इस देश के भूपृष्ठ पर सशरीर विद्यमान थे। कहते हैं, उन्होंने बिखरे हुए मंत्रों का संकलन कर ऋग्वेद, (कृष्ण) यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नामक चार संहिताएँ बनाई थीं, जिन्हें उन्होंने क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु नामक अपने चार प्रधान शिष्यों को अध्ययन के हेतु बाँट दिया था। इस महान् संपादन-कार्य के लिए ही उन्हें व्यास की सम्मानपूर्ण उपाधि दी गई थी†। किन्तु उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य तो उस विराट् ग्रंथ—महाभारत—का निर्माण था, जो आगे चलकर 'पाँचवें वेद' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। महाभारत जिस रूप में हमें उपलब्ध है, वह एक विशिष्ट साहित्यिक कृति जैसा नहीं वरन् एक पूरा वाङ्मय है। उसमें हरिवंश को मिलाकर लगभग १ लाख श्लोक मिलते हैं। किन्तु ये सब के सब व्यास की रचना नहीं माने जाते। स्वयं महाभारत में ही इस बात का उल्लेख है कि व्यास का मूल 'भारत' २४ हज़ार श्लोकों में निबद्ध था। व्यास ने इस ग्रंथ को महाभारत-युद्ध की समाप्ति के बाद हिमालय में स्थित अपने एकान्त आश्रम में तीन वर्ष के लगातार परिश्रम से एक महाकाव्य के रूप में रचा था। इसका नाम उन्होंने 'जय' रक्खा था और आगे चलकर वही रचना 'भारत', 'भारती कथा' या 'भारत-संहिता' के नाम से अभिहित की जाने लगी थी। यह नवीन रचना व्यास ने रोमहर्षण सूत नामक शिष्य को पढ़ाई थी और उन्हीं के एक अन्य शिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के सर्प-यज्ञ में सर्वप्रथम इसका पारायण किया था। वहीं रोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत को यह कथा सुनने को मिली थी। जब नैमिषारण्य में शौनक द्वारा आरंभ किए गए बारह वर्ष के महान् ज्ञान-यज्ञ में सौति उग्रश्रवा द्वारा पुनः व्यास के इस अमर महाकाव्य का पारायण किया गया तब प्रसंगवश उसमें स्थल-स्थल पर अनेक नवीन उपाख्यान और प्रकरण भी जोड़ दिए गए। कालान्तर में ज्यों-ज्यों इस ग्रंथ की महिमा और लोकप्रियता में वृद्धि होती गई त्यों-त्यों बाद के प्रवचनकर्त्ता भी उसमें अपनी ओर से अनेक प्रक्षेप मिलाते गए। इसका फल यह हुआ कि व्यास का २४ हज़ार श्लोकों का वह मूल 'भारत' क्रमशः एक लाख श्लोकों के एक बृहत् विश्व-कोश में परिणत हो गया। यही हमारा आज का 'महाभारत' है। इस विराट् ग्रंथ के गहन दण्डकवन में आज दिन यह पता लगाना कठिन है कि कौन-सा अंश मूल रूप में महामुनि व्यास द्वारा विरचित है और कौन-सा बाद को जोड़ा गया है। हाँ, यह निश्चित है कि इस रूप में वह कम-से-कम पिछले डेढ़-दो हज़ार वर्षों से तो अवश्य ज्यों-का-त्यों चला आ रहा है। इसके

* देखो, महाभारत, आदि-पर्व।

† 'वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इतीरितः'।

अनेक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलते हैं। वैद्य आदि भारतीय विद्वानों के अनुसार मूल भारत-संहिता की रचना और शत-साहस्री महाभारत के रूप में उसके परिवर्द्धन की तिथियों के बीच लगभग ढाई हज़ार वर्ष का व्यवधान पाया जाता है। हमारे विचार में महाभारत जैसे विशद सांस्कृतिक कोश के विकास के लिए यह कालावधि कोई बहुत अधिक या असंगत नहीं है। यदि उपरोक्त प्रस्थापना मान ली जाय तो हमारे चिरवंदनीय महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास निश्चय ही आज से लगभग ५ हज़ार वर्ष पूर्व इस भूमि पर विचरते रहे होंगे। उसी युग में उन्होंने अपनी अगाध साहित्यिक साधना द्वारा पहले वेदों का संकलन और संपादन किया होगा और उसके बाद जनसाधारण के लिए धर्म का तत्त्व सुलभ बनाने के उद्देश्य से ग्रंथराज महाभारत की नींव डाली होगी।

रामायण की तरह महाभारत एक सुगठित महाकाव्य या विशिष्ट साहित्यिक कृति नहीं प्रत्युत् एक विश्व-कोश जैसी रचना है। वह प्राचीन भारतीय धर्म, नीति, तत्त्वज्ञान, इतिहास, समाज-विज्ञान, राजनीति, काव्य और गाथाशास्त्र सभी का ख़ज़ाना है। ऋग्वेद के बाद वही हमारे प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मय का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। आकार में तो सारे संसार में उसकी समानता की दूसरी रचना नहीं है। ओडेसी और इलियड दोनों को मिलाकर तुलना करने पर भी महाभारत उनसे आठ गुना बड़ा उतरता है! रामायण से भी वह चौगुना बड़ा है। शैक्सपीयर की तो सभी कृतियों को मिलाकर नापा जाय तो भी वे महाभारत से कम ही ठहरेंगी। इसीलिए हमने इस विराट् रचना को एक ग्रंथ नहीं प्रत्युत् विशिष्ट वाङ्मय कहकर अभिहित किया है। इस महाग्रंथ में १८ पर्व या खंड हैं और परिशिष्ट के रूप में हरिवंश नामक पुराण भी इसी का एक अंग माना जाता है। इसके संबंध मे यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "जो कुछ महाभारत में नहीं है वह भारतवर्ष में ही नहीं है।" वास्तव में महाभारतकार का उद्देश्य था जनसाधारण की प्यास बुझाना, और यह कार्य उन विविध विषयक लौकिक गाथाओं के प्रयोग द्वारा ही हो सकता था, जो देश के भिन्न-भिन्न भागों में प्रचलित थीं। उन्हीं में प्राचीन काल से चली आ रही जाति की रूढ़ियाँ संगृहीत थीं। इन लोक-कथाओं को एक ही स्थल पर संकलित कर महाभारतकार ने अनायास ही एक महान् कार्य कर डाला। उसने सदैव के लिए लोगों के मन पर इस महादेश की एकता की छाप जमा दी। लोगों के अंतस्तल में इस भावना ने दृढ़ रूप से घर कर लिया कि भिन्न-भिन्न वर्णरूप, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा और भाषाओं से रंजित होकर भी यह पवित्र भारतभूमि एक ही है, उसकी संस्कृति भी एक ही है, एक ही उसकी परंपरा है। इस प्रकार महाभारत और उसके रचयिता द्वारा पहले-पहल हमें भारतवर्ष के एक ही राष्ट्र होने का भान हुआ। हमारे विचार में व्यास की यही एक देन चिरकाल के लिए उन्हें हमारे राष्ट्रीय मंदिर में सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठापित कर देने के लिए पर्याप्त है।

रामायण में जिस प्रकार मुख्यतः आदर्श गृहधर्म का चित्र है, महाभारत में उसी प्रकार प्रमुख रूप से समाज-धर्म की रूपरेखा अंकित की गई है। किन्तु दोनों का लक्ष्य एक ही है। दोनों लौकिक शब्दावली में आर्य धर्म की विशद व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। दोनों अनीति पर नीति, अधर्म पर धर्म और अनाचार पर चरित्र की विजय का चित्र खींचते हैं। दोनों के लिए मनुष्य से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। वाल्मीकि ने 'चरित्र' कहकर जिसकी व्याख्या की थी वही महाभारत में आकर 'धर्म' बन गया है। यह 'धर्म' ही महाभारतकार की दृष्टि में वह बंधन है जिससे समाज अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है। यदि धर्म की रक्षा न की जाय तो समाज में अराजकता फैल जायगी और तब न सांसारिक न आध्यात्मिक उन्नति ही संभव होगी। धर्म ही से लोक-संग्रह संभव है—धर्म ही अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का साधन है। व्यास की निगाह में इस धर्म का स्थान इतना ऊँचा है कि उसकी महत्ता और जीवन के साथ उनकी घनिष्ठता की छाप हमारे मन पर अंकित करने के लिए वह कुछ भी नहीं उठा रखते। इस पर भी जब कोई उनकी बात नहीं समझ पाता तो झुँझलाकर अंत में वह कह देते हैं—"मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुनता ही नहीं!

मै कहता हूँ कि धर्म ही से अर्थ और काम की भी प्राप्ति होती है, फिर भी तुम लोग धर्म का आसरा क्यों नहीं लेते ?"

महाभारत के सबसे महत्त्वपूर्ण अंश शांति और अनुशासन पर्व हैं, जिनमें राजनीति, समाजविज्ञान, दंड-विधान, और तत्त्वविवेचन संबंधी प्राचीन भारतीय विचारों का पूरा खाका खींच दिया गया है। किन्तु इस ग्रंथ को सबसे अधिक गौरव तो इस बात के लिए प्राप्त है कि श्रीमद्भगवत्गीता जैसा अलौकिक रत्न भी उसकी ही खदान से निकला है। गीता के अतिरिक्त अनुगीता, सनत्सुजातीय, मोक्षधर्म और नारायणीय प्रकरण आदि और भी अनेक आध्यात्मिक तत्त्व-विवेचन से संबंध रखनेवाले महत्त्वपूर्ण अंश महाभारत में हैं। इसी प्रकार इसके वे अगणित उपाख्यान भी कम महत्त्व नहीं रखते, जिनमें हमें शकुन्तला, सावित्री, दमयन्ती, विदुला और तपती जैसी आदर्श आर्य्य नारियों के सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। वास्तव में, महाभारत हमारी प्राचीन संस्कृति का विशद चित्रपट है—उसमें जो भी खोजा जाय वही पाया जा सकता है।

महाभारत ही में हमें उसके निर्माता महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास के पार्थिव जीवन के भी कुछ सूत्र यहाँ-वहाँ बिखरे हुए मिलते हैं—किस प्रकार सत्यवती के गर्भ से कुमारी अवस्था ही में यमुना के एक एकान्त द्वीप पर उनका जन्म हुआ और आरंभ ही से अध्यात्म-चिंतन की ओर विशेष झुकाव होने के कारण वह बचपन ही में हिमालय को चल दिए। वहीं नर-नारायण पर्वतों की छाया में विशाला बदरी नामक पवित्र स्थान में उन्होंने अपना आश्रम बनाया, जो वेदों से महाभारत तक उनकी सारी साहित्यिक साधना का मुख्य केन्द्र रहा। कहते हैं, इस बदरी आश्रम में रहने के कारण ही व्यास का एक नाम बादरायण भी पड़ गया और इसी नाते वह बादरायणकृत वेदान्तसूत्र नामक महत्त्वपूर्ण वेदान्त-ग्रंथ के भी रचयिता माने गए हैं, यद्यपि अनेक आधुनिक विद्वानों के मत में यह ग्रंथ बहुत बाद की रचना है। जब शान्तनु-पत्नी सत्यवती का पुत्र विचित्रवीर्य्य युवावस्था ही में निःसन्तान मर गया तब व्यास ने ही माता के आदेश से अंबिका और अंबालिका नामक उसकी विधवा पत्नियों से नियोग द्वारा धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक दो पुत्र उत्पन्न किए थे। इस नाते कौरवों और पाण्डवों के कुल के साथ व्यास का जीवन भर प्रगाढ़ संबंध बना रहा और फलस्वरूप महाभारत में हम उन्हें बार-बार अपने हिमालय में स्थित आश्रम से मैदानों में उतरकर निष्पन्न भाव से कौरव और पाण्डव दोनों को समय-समय पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य संबंधी उपदेश देते हुए पाते हैं। कहते हैं, बाद में सुविधा के लिए व्यास ने सरस्वती के तट पर हस्तिनापुर के समीप ही एक और आश्रम बना लिया था, जहाँ उन्होंने श्रीमद्भागवत नामक भक्ति-रस के अनमोल ग्रंथ की रचना की थी। संभव है, यहीं उन्होंने उस मूल पुराण-संहिता की भी रचना की हो, जिससे आगे अनेक पुराण बने।

धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर आदि की भाँति स्वयं व्यास भी महाभारत के एक पात्र हैं और उसके महान् जीवन-नाटक में एक महत्त्वपूर्ण सक्रिय भाग लेते हैं, किन्तु अन्य सभी पात्रों को जहाँ हम कालचक्र की परिधि पर चक्कर काटते हुए पाते हैं वहाँ व्यास को मानो उस चक्र की धुरी पर ही अटल और अचल अवस्थित देखते हैं। वह हमें एक तटस्थ द्रष्टा के रूप में ही हर कहीं दिखाई पड़ते हैं। वस्तुतः यही व्यास का सच्चा महाकवित्व है। जब भारतीय गगन में युद्ध के काले बादल मँडराने लगे और विनाश का दृश्य सामने खिंच गया तब श्रीकृष्ण की तरह उस अनर्थ को रोकने के लिए व्यास ने भी भरसक कोशिश की थी। किन्तु काल की प्रबल सत्ता के सामने—जिसका लोहा व्यास और कृष्ण दोनों ही मानते थे—किसकी चल सकती थी? उस महाकाल के विघूर्णित चक्र की गति से श्रीकृष्ण और व्यास से अधिक उस युग में दूसरा कोई परिचित था भी कौन? अतएव जब कुरुक्षेत्र के मैदान में अपनी ही आँखों के सामने टिड्डीदल की तरह उमड़ते हुए अंधे जन-समूहों को व्यास ने मृत्यु के कराल गाल में समाते हुए देखा होगा तो बरबस ही नियति की निरंकुश सत्ता के प्रति उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया होगा। अचरज नहीं यदि संसृति के प्राङ्गण में धू-धू करते हुए काल के इस अनादि अनंत महाताण्डव के एक प्रतीक के रूप में ही महाकवि ने अपने अमर महाकाव्य की रचना की हो!

श्रीकृष्ण

पाँच हज़ार वर्ष पहले का भारत। हमारे इतिहास का दूसरा पहर। ऋग्वेदकालीन आर्य्य-अनार्य्य संघर्ष का युग समाप्त हो चुका—अब हिमालय से कुमारी अंतरीप तक सब कहीं आर्य्यों की ही सत्ता और संस्कृति का झंडा फहराने लगा था। यद्यपि देश के वक्षःस्थल पर अब भी खाण्डव, काम्यक या द्वैत वन जैसे बीहड़ जंगलों की पट्टियाँ बाँह पसारे खड़ी थीं, किन्तु उनसे सिन्धु, सौवीर, कुरु, पंचाल, विदर्भ, आनर्त्त, कोसल, विदेह आदि दूर-दूर स्थित जनपदों के बीच निरंतर दौड़ते रहनेवाले रथों की अनवरत किंकिणीक ध्वनि में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। क्रमशः क्षीण पगडंडियाँ विशद राजमार्गों में परिणत हो चलीं। जहाँ कभी निर्जन अरण्य हहराता था वहीं अब वृहत् जनपद, नगर और ग्राम अपना उन्नत मस्तक लिये उठ खडे हुए। जाति के जीवन मे यह मानों यौवन का प्रथम समागम था। उसकी नस-नस मे एक नवीन उमंग और स्फूर्त्ति की विद्युल्लहरी दौड़ने लगी। संस्कृति के साथ ही समृद्धि की भी मानो एक बाढ़-सी आ गई। गृह, मंदिर, नगर और गाँव सभी कला और विपुलता के एक अभूतपूर्व भाव से रंजित हो उठे। झोपड़ियाँ महलों से होड़ बदने लगीं। यह अपूर्व सुख-शांति का युग भारतीय इतिहास का मानों पहला स्वर्णयुग था।

किन्तु यौवन ही का तो उन्माद ठहरा! कौन एकबारगी ही इतना वैभव, इतनी शक्ति पाकर एक बार प्रमाद के उलटे प्रवाह में अपने आपको बहने से रोक पाता? क्रमशः आर्य्यों

को शक्ति का एक नशा-सा चढ़ आया। उनमें जिगीषा की भावना तीव्र हो उठी, और उसके निकास का और कोई मार्ग न देख उन्मत्त हो वे आपस में ही एक-दूसरे को ललकारने लगे। इस प्रकार एक स्वेच्छाचारिता की भावना प्रबल होने लगी। पुरातन लोकहित-मूलक परंपरा की लीक टूट चली, और वह दिन भी आ गया जब जनता अपनी नागरिक स्वतंत्रता खोकर कंस, जरासंध, और नरक भौम आदि कुछ मुट्ठीभर स्वेच्छाचारी शासकों के दमन-चक्र की शिकार बन गई! आर्य्य-जाति के इतिहास में पतन की शोकजनक दारुण कथा का मानों यह पहला पृष्ठ था।

यह प्रतिक्रिया राजनीतिक क्षेत्र ही तक सीमित रही हो सो भी नहीं, बल्कि उसका दूषित प्रभाव लोगों के धार्मिक जीवन पर भी पड़ता दिखाई दिया। प्रमाद का यह उमड़ता हुआ ज्वार कैसे रोका जाय, क्योंकर राजनीति में निरंकुशता और धर्म में उच्छृं-खलता का यह उबाल ठंढा हो? व्यास जैसे कुछ विचारकों के मन में बार-बार यह प्रश्न उठता, पर इस जनताण्डव की गति को थामने में वे अपने आपको असमर्थ पाते। व्यास चिल्ला-चिल्लाकर कहते—"मैं भुजा उठाकर कहता हूँ, फिर भी कोई मेरी सुनता ही नहीं। मैं कहता हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम दोनों की प्राप्ति संभव है। फिर भी तुम धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते !!" पर बात उनके बस की नहीं थी। इसके लिए तो आवश्य-कता थी एक ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व की जो राज-नीति में क्रांति और धर्म में समन्वय की लहर उत्पन्न कर लोक को ताप और संताप दोनों से मुक्त कर सके—जो मदमातों का नशा उतार सके और अज्ञानांधकार में भटकनेवालों की आँखें खोल सके। देश के सौभाग्य से वह अलौकिक व्यक्तित्व भी अंततः इस भूमि पर उतरा और अपने प्रखर तेज से शत-शत युगों तक के लिए उसने हमारा मार्ग आलोकित कर दिया। उसके क्रांति-चक्र के प्रहार से उद्दण्ड दण्डधारियों का गर्व छिन्न-भिन्न हो गया और उसके संदेश ने जनसाधारण से लेकर बड़े-बड़े ज्ञानियों तक सभी की आँखें खोल दीं। इस नवागत महान् विभूति में भारत ने अपने चिर-प्रतीक्षित मुक्तिदाता को पहचाना और उसकी मनभावनी मंजुल मूर्त्ति पर निछावर हो सदा के लिए उसे अपनी आँखों में रमा लिया।

भादों की घनी अँधेरी रात। कंस का कारागार। बीच-बीच में बेड़ियों की झनकार सुनाई पड़ने लगती है और उसके साथ ही बाहर डटे हुए पहरुओं की आतंक-सूचक हुंकार भी वायुमंडल को कँपा देती है। अत्याचार और राजनीतिक षट्-चक्र से निपीड़ित इस तरह के कटु वातावरण में ही बंदिनी देवकी के गर्भ से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मध्यरात्रि के समय भारत का यह हृदय-सम्राट् पैदा हुआ। ज़रा सोचिए तो कि जिस व्यक्ति के जन्म के साथ ही राजनीतिक कुचक्र का ऐसा ताँता जुड़ा हो कि उसके जन्म से पहले ही उसके माता-पिता को बेड़ियाँ पहनाकर कारागार में डाल दिया जाय, उसका अस्तित्व-मात्र तत्कालीन निरंकुश सत्ताओं के लिए कितना भयप्रद रहा होगा! कृष्ण के जन्म की इस गाथा से मानों सूत्ररूप में उनके जीवन के सारे कार्यक्रम की पूर्व सूचना हमें मिल जाती है। दमन-चक्र की छाया में अवतीर्ण होकर जीवन भर हर कहीं उसका उन्मूलन करते ही उन्हें बीता। कंस-निपात और जरासंध-वध से लेकर महाभारत के महान् रण-यज्ञ और अंत में यादवों के विनाश तक की उनकी सारी जीवन-कहानी मानों इसी एक महा-व्रत की पूर्त्ति की अटूट गाथा है। पश्चिम में गांधार से लेकर पूर्व में प्राग्ज्योतिष तथा उत्तर में शाल्व प्रदेश से लेकर दक्षिण में पांड्य राज्य तक सारे भारतवर्ष के एक-एक अत्याचारी शासक से कृष्ण की मुठभेड़ हुई और प्रत्येक को उनके व्यक्तित्व के सामने मुँह की खानी पड़ी। इसके बाद भी जो बचे रह गए उनकी एक साथ ही कुरुक्षेत्र के मैदान में मानों आख़िरी आहुति चढ़ा दी गई। अचरज की बात तो यह थी कि कृष्ण के दारुण चक्र से स्वयं उनका अपना यादव-कुल भी नहीं बच पाया! अपने युग की उस क्रान्ति की ताण्डव-लीला में कृष्ण मानों सबको नचानेवाले महाकाल के प्रतीक थे। संभवतः इसीलिए अपने जीवनकाल ही में वह एक अलौकिक दिव्य महापुरुष के रूप में पहचाने जाने लगे थे।

कंस के कारावास से चुपके से आधी रात को निकलकर किस प्रकार पिता वसुदेव बालक कृष्ण को यमुना-पार अपने मित्र नंद गोप के यहाँ रख

आए और किस प्रकार गोप-ग्वालों के लाड़-प्यार से लालित-पालित हो वह गोकुल और वृन्दावन के निकुञ्जों में अपने बड़े भाई बलदेव के साथ किशोरावस्था को प्राप्त हुए, इसकी मधुर गाथा को भी क्या यहाँ दुहराने की आवश्यकता है? व्यास से लेकर सूर और अन्य आधुनिक कवियों तक सभी ने उसको आधार बनाकर अपनी काव्यधारा बहाई है और आज भी कृष्ण की जादूभरी बाँसुरी के स्वर से गुञ्जित कालिन्दी का तट हमारे कवियों की हृदय-वीणा के तारों को हिलाये बिना नहीं रहता। किन्तु किसी-किसी अंश में कुछ दुस्साहसी साहित्यकारों ने ऐतिहासिक तथ्य और मर्यादा का अतिक्रमण कर इन कथाओं को अतिरंजित भी कर दिया है—वे पाँच हज़ार वर्ष पूर्व के गीता के उपदेष्टा, कंस-जरासंध-शिशुपाल आदि निरंकुश लोकपीड़क शासकों के विघातक, महान् क्रान्तिकारी, युग-निर्माता, जगद्गुरु, योगीश्वर कृष्ण को तो भूल गए और इसके बदले उनकी किशोरावस्था तक की बालचर्य्या की कहानी को ही तोड़-मरोड़कर मनमाने ढंग से अपने ही युग विशेष की गंदी मिट्टी से उनका एक ऐसा विकृत रूप गढ़कर उन्होंने जनता के सामने रख दिया जो हमारे साहित्य का सबसे बड़ा कलंक है। कृष्ण जैसे महापुरुष के व्यक्तित्व के साथ यह खिलवाड़ कर इन लोगों ने जो कुचेष्टा की उसका दण्ड आज भी यह देश भोग रहा है। जब अभिनव भारत का पुनरुत्थान होगा तब हमारा यह सबसे पहला कर्त्तव्य होगा कि हम अपने वाङ्मय को बाद को लग गए इस कीचड़ से मुक्त कर कृष्ण जैसे अपने महान् राष्ट्र-निर्माताओं को पुनः राष्ट्रीय मंदिर में उपयुक्त आसन पर प्रतिष्ठापित करें।

वृन्दावन के निकुञ्जों को छोड़कर जब श्रीकृष्ण मथुरा आए, तब तक उनका न तो उपनयन-संस्कार ही हुआ था, न आर्य्य-परम्परा के अनुसार गुरुकुल में रहकर शिक्षा पाने का ही अवसर उन्हें मिला था। किन्तु क्रान्ति और महानता के जो बीज उनमें छिपे थे वे इस अल्पायु में ही स्पष्टतः अंकुरित होने लग गए थे। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि कृष्ण के माता-पिता अभी कंस के कारागार ही में थे, अतएव कृष्ण का यह पहला कर्त्तव्य हो गया कि जीवन की अन्य सभी तैयारियों को स्थगित कर सबसे पहले माता-पिता और मातृप्रदेश को बंधन-मुक्त करें। वास्तव में राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना अन्य किसी कार्यक्रम को सफल बनाना संभव भी न था। कंस के विरुद्ध भीतर ही भीतर आग तो सुलग ही रही थी, आवश्यकता थी केवल उपयुक्त नेतृत्व की। वह नेतृत्व भी जब अलौकिक बुद्धि-शक्तिसंपन्न कृष्ण के रूप में मिल गया तब जनचक्र के एक ही प्रहार से कंस का सारा पासा उलट गया।

मथुरा में पुनः उग्रसेन की अधीनता में न्याय की प्रस्थापना होने पर श्रीकृष्ण क्षात्र-धर्म की शिक्षा के लिए सांदीपिनि के गुरुकुल में प्रविष्ट हुए। यहीं उन्होंने धनुर्विद्या से लेकर चारों वेदों तक की वह महती शिक्षा ग्रहण की जो उनकी प्रतिभा के प्रकाश से आगे चलकर अप्रतिम युद्ध-कौशल, अमोघ राजनीतिक मंत्र, और गीता जैसे अलौकिक तत्त्व-शास्त्र के निर्माण के रूप में पुष्पित और पल्लवित हुई। कृष्ण का यह अल्पकालिक विद्याध्ययनकाल ही मानों उनके व्रज के बाल्य-जीवन और उसके बाद आनेवाले निखिल भारतवर्षीय लोक-जीवन के बीच का संधि-काल था। ज्योंही सांदीपिनि के विश्व-विद्यालय से एक स्नातक के रूप में वह बाहर निकले वैसे ही मानों व्रज की सीमा को लाँघकर समस्त भारतवर्ष की वस्तु बन गए। इस पट-परिवर्त्तन का उद्घाटन दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं के साथ हुआ—प्रथम यादवों की राजधानी का मथुरा से हटकर सुदूर पश्चिम में आधुनिक काठियावाड़ के समुद्र-तट पर द्वारका के टापू में बसाया जाना, और दूसरी पाण्डवों से भेंट के परिणामस्वरूप हस्तिनापुर की राजनीति के साथ जीवन भर के लिए कृष्ण के प्रगाढ़ संबंध की स्थापना होना। यह सचमुच ही गौरव की बात थी कि जहाँ भारत के अन्य भागों में उन दिनों जरासन्ध, शिशुपाल या दुर्योधन जैसे निरंकुश सत्ताधारियों का ही आतंक छाया हुआ था, वहाँ उसके पश्चिमी भाग में श्रीकृष्ण और उग्रसेन के संमिलित नेतृत्व में एक विशुद्ध जनसत्तात्मक गण-राज्य स्थापित था, जिसकी अपनी एक व्यवस्थापिका सभा (पार्लमेंट) भी थी। किन्तु केवल जनता की ही आवाज़ पर चलनेवाले राज्यों में अंततः जो कम-

ज़ोरियाँ और ख़राबियाँ पैदा हो जाती हैं, वही द्वारका के इस गण-राज्य को भी ले डूबीं। उसमें निरंतर छिड़ा रहनेवाला वाक्-युद्ध ही उसके पतन का कारण बन गया, और एक दिन आया जब अपने ही हाथों अपना गला घोंटकर इस दुनिया के पट पर से उसने अपना नाम तक मिटा दिया। कृष्ण जैसा नेता पाकर भी उसकी यह गति हुई, यह सचमुच ही कालचक्र की अद्भुत् लीला थी। भारत के इतिहास में यादवों के सामुदायिक आत्मघात की यह कथा वास्तव में एक हृदय-विदारक अश्रु-सिंचित करुण कहानी के रूप में पिरोयी हुई है।

कृष्ण के इस एकान्त घरेलू राजनीतिक जीवन के तारतम्य को यहीं छोड़कर जब हम उनके उस निखिल भारतीय कार्यक्षेत्र की ओर चलते हैं, जिसकी धुरी हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ की राजनीति के बीच प्रस्थापित थी, तो उसकी घूर्णमान चक्र-गति की पराकाष्ठा कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और उनके साथ ही भारत के अन्य सभी उद्दण्ड राजसत्ताधारियों की संमिलित आहुति के रूप में हमें दिखाई पड़ती है। महाभारत का युद्ध प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण किन्तु साथ ही अतिदारुण अध्याय है। इस गृहयुद्ध की उपज यद्यपि कौरवों और पाण्डवों के एक घरेलू झगड़े के रूप में हुई थी, किन्तु उसकी तह में यथार्थ में एक अखिल भारतवर्षीय व्यापक संघर्ष के बीज भीतर-ही-भीतर काम कर रहे थे। श्रीकृष्ण ने व्यर्थ के रक्तपात को बचाने के लिए युद्ध को रोकने की भरसक कोशिश की। वह स्वयं शान्ति के दूत बनकर हस्तिनापुर गए। किन्तु जब मदान्ध दुर्योधन एक सुई के बराबर धरती देने को भी राज़ी न हुआ तब बलात् समंतपंचक (कुरुक्षेत्र) का पवित्र मैदान भारत का चिरसमाधिस्थान बन गया! आज हम उस हृदयविदारक जनताण्डव की गाथा को यहाँ फिर से न दुहराएँ यही अच्छा है!

सुनते हैं कि देव-युग में समुद्र-मंथन के समय अनेक रत्नों के साथ दुर्लभ अमृत की भी प्राप्ति हुई थी। यह बात कहाँ तक यथार्थ है, हमें नहीं मालूम, किन्तु आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र के मैदान में इस देश की विविध शक्तियों का जो विलोड़न हुआ उसके फलस्वरूप अवश्य ही अमृत से भी अधिक मूल्यवान एक वस्तु संसार को मिली थी। यह अनमोल वस्तु अर्जुन को निमित्त बनाकर 'गीता' के रूप में सारी मानव जाति को दिया गया जगद्गुरु श्रीकृष्ण का अमरत्व का संदेश है। न केवल भारत प्रत्युत् संसार भर के लिए श्रीकृष्ण की यही सबसे बड़ी देन है। उनकी राजनीतिक क्रान्ति तो केवल उनके ही युग विशेष के लिए इस देश के वातावरण को कंटकरहित कर पाई थी—बाद में पुनः शिशुपाल, दुर्योधन और जरासन्धों की इस देश में बाढ़-सी आ गई। किन्तु गीता के रूप में उन्होंने जो मंत्र हमें दिया वह एक स्थायी वरदान है। उसकी ज्ञान-योग रूपी सरस्वती, भक्ति-योग रूपी मंदाकिनी और कर्म-योग रूपी कालिन्दी की त्रिवेणी में अद्वैतवादी शंकर, विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज, द्वैतवादी मध्व और भक्तिमार्गी वल्लभ से लेकर कर्मयोगी तिलक, अहिंसावादी गाँधी और योगीराज अरविन्द तक सभी ने डुबकियाँ लगाईं और सभी ने अपने-अपने हृदय का प्रसाद पाया है। यही कारण है कि वेदों, उपनिषदों, दर्शन-सूत्रों, और रामायण-महाभारत जैसे दिग्गज ग्रंथों के विशद समुदाय में सात सौ श्लोकों की यह छोटी-सी रचना ही विगत पचास शताब्दियों से हीरक सिंहासन पर आसीन है!

आज के वैज्ञानिक सुदूर भविष्य में पूर्ण रूप से विकसित मानव के अविर्भाव का स्वप्न देखने लगे हैं, किन्तु भारत तो कृष्ण के रूप में आज से ५ हज़ार वर्ष पूर्व ही उस महामानव को जन्म दे चुका है। पूर्ण मानव के लिए जितने भी आदर्शतम गुणों की कल्पना की जा सकती है, उन सब की पराकाष्ठा कृष्ण के व्यक्तित्व और चरित्र में हम पाते हैं। जर्मन विद्वान् हम्बोल्ट ने श्रीमद्भगवद्गीता के बारे में उद्‌गार प्रकट करते हुए एक बार कहा था—"इसे पढ़ते समय प्रतिक्षण मेरे मन में नियति के प्रति कृतज्ञता का यह भाव बना रहता है कि उसने मुझे ऐसे ग्रंथरत्न का अनुशीलन करने के लिए जीवित रक्खा!" हमें भी इसी प्रकार अपना भाग्य सराहना चाहिए कि पृथ्वी के सब देशों में केवल हमारे देश को ही कृष्ण जैसे महामानव को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

याज्ञवल्क्य

उत्तरकालीन वैदिक युग। उपनिषदों में व्यक्त दार्शनिक विचारों का उदय। एक अभूतपूर्व बौद्धिक जागृति और हलचल। जनक वैदेह, काशि-राज अजातशत्रु, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय जैसे ब्रह्मवादी राजर्षियों का समुत्थान। तत्त्व-चिंतन और ज्ञान-यज्ञों की धूम। नए-पुराने का संघर्ष। जाति के जीवन में एक नवीन प्राण का संचार।

आइए, इस हलचल की एक स्थूल झाँकी भी देखें। विदेहराज जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में कुरु-पञ्चाल के एक-से-एक प्रकाण्ड तत्त्ववेत्ता जुटे हैं। सामने एक हज़ार दुधारी गौएँ खड़ी हैं। प्रत्येक के सींगों पर दस-दस 'पाद' या सुवर्ण मुद्राएँ बँधी है। शर्त्त है, जो भी ब्रह्म को सबसे अधिक जानने का दावा करता हो, वह इन गौओं को हँका ले जाय। सब एक दूसरे का मुँह ताक रहे हैं। किसमें साहस था जो सामने आकर सारे आर्यावर्त्त को चुनौती दे होड़ बदता?

एकाएक एक दृढ़ गंभीर वाणी सुनाई पड़ी—'सौम्य सामश्रवा, हँका ले चलो इन गौओं को!'

उत्सुकता के साथ ही रोष की भी एक लहर दौड़ गई! विरोध की पहली आवाज़ स्वयं जनक के ही ऋत्विज् अश्वल ने बुलंद की—'याज्ञवल्क्य! क्या सचमुच ही तुम अपने को हम सबमें ब्रह्म का सर्व-श्रेष्ठ ज्ञाता समझते हो?'

इसके बाद तो आर्त्तभाग, भुज्य, उशस्त, कहोल, गार्गी, उद्दालक आदि एक-से-एक प्रकाण्ड दार्शनिक अपने ज्वलंत प्रश्नों की बौछार लिये वाजसनेय याज्ञवल्क्य पर मानों टूट पड़े। उद्दालक आरुणि तो याज्ञवल्क्य के आचार्य ही थे! किन्तु अमित प्रतिभाशाली वाजसनेय की प्रखर वाणी के आगे सबको मूक हो जाना पड़ा!

अंत में महापण्डिता गार्गी वाचक्नवी ने कहा—'ब्राह्मणो, मै पुनः याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूँगी। यदि इनका उत्तर मिल जाय तो फिर यह निश्चित

समझिए कि आप में से कोई भी कभी ब्रह्म के विवाद में इन्हें नहीं जीत सकेगा।'

'पूछो गार्गी, पूछो!' एक स्वर से सब बोल उठे।

'याज्ञवल्क्य! काशी या विदेह के राजन्य धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर जिस प्रकार शत्रु के लिए घातक दो कराल बाण लिये आगे बढ़ते हैं, मैं भी उसी तरह इन दो प्रश्नों को लेकर अग्रसर होती हूँ। उत्तर दो! स्वर्ग से भी ऊपर जो कुछ है और जो कुछ पृथ्वी से भी नीचे है, जो कुछ इन दोनों के बीच में और भीतर व्याप्त है, तथा जिसे हम भूत, भविष्य और वर्त्तमान कहकर पुकारते हैं, वह सब किसके द्वारा निर्मित है, किस पर आश्रित?'

'वह सब आकाश तत्त्व द्वारा निर्मित और उसी पर आश्रित है, गार्गी।'

'और स्वयं वह आकाश तत्त्व?'

'वह जिस पर आश्रित और जिसके द्वारा निर्मित है, उसे विप्रगण 'अक्षर' कहकर पुकारते हैं! वह न तो स्थूल है न सूक्ष्म, न लघु है न दीर्घ, न रक्तिम है न आर्द्र, न छाया है न अंधकार, न वायु है न आकाश, न स्वाद है न गंध, न नेत्र है न कर्ण, न वाणी है न मन, न तेज है न प्राण, न भीतर है न बाहर। वह निरवलंब न तो किसी का भक्षण करता न किसी के द्वारा भक्ष्य ही है। फिर भी उसी से सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी-स्वर्ग, घड़ी-पल, दिन-रात, पक्ष-मास, ऋतु-संवत्सर आदि नियंत्रित होते, उसके ही अधीन पूर्व की नदियाँ हिमाच्छादित पर्वतों से उतरकर पूर्व की ओर प्रवाहित होतीं और पश्चिम की पश्चिम की ओर। वह दृश्य नहीं फिर भी सब-कुछ देखता, श्रौत नहीं फिर भी सब-कुछ सुनता, ज्ञेय नहीं फिर भी सब-कुछ जानता है। उसके अतिरिक्त न तो दूसरा कोई द्रष्टा है न श्रोता या ज्ञाता ही। उसी अक्षर ब्रह्म पर सब-कुछ आश्रित है और उसी से सब-कुछ निर्मित है, गार्गी!'

'महाशयो!' पराजित गार्गी ने कहा, 'ब्रह्म के विषय में आप में से कोई भी कभी इन्हें नहीं जीत सकेगा। आइए, हम सब याज्ञवल्क्य का अभिवादन करें, इसी में हमारा गौरव है।'*

उत्तरकालीन वैदिक वाङ्मय में हमें उद्दालक आरुणि, सत्यकाम जाबाल, गार्ग्य बालाकि, महिदास ऐतरेय, प्रवाहण जैवलि, विदग्ध शाकल्य, जनक वैदेह, अश्वपति कैकेय, श्वेतकेतु औद्दालकि, गार्गी वाचक्नवी, पिप्पलाद, रैक्व, प्रतर्दन, शांडिल्य, अजातशत्रु, आदि अनेक प्रतिभासम्पन्न ब्रह्मवादियों के दर्शन होते हैं, किन्तु याज्ञवल्क्य इस नक्षत्र-मंडली में मानों सूर्य के समान हैं। वैदिक आर्यों की ज्ञानार्जन-संबंधी साधना की उपनिषदों में जो पराकाष्ठा हुई, याज्ञवल्क्य उसके मूर्त्तिमान् प्रतीक हैं। व्यास की तरह याज्ञवल्क्य की भी हमारी संस्कृति पर अमिट छाप अंकित है। यह महापुरुष पूर्वीय भारत के निवासी थे, जो उन दिनों इस देश की दार्शनिक विचारधारा का मुख्य केन्द्र था। पिता का नाम वाजसेनी था, इसीलिए यह 'वाजसनेय' भी कहलाए। कहते हैं, याज्ञवल्क्य ही शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण के निर्माता थे। हमारे धर्म-शास्त्र का एक प्रमुख ग्रंथ—याज्ञवल्क्य-स्मृति—भी इनके ही नाम पर प्रचलित है, यद्यपि आधुनिक विद्वानों के अनुसार वह रचना बाद की है।

याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। अंतिम दिनों में जब वह संन्यास ग्रहणकर वन को जाने लगे तब उन्होंने मैत्रेयी से कहा—'मैत्रेयी, मैं अब यहाँ से जा रहा हूँ, आओ तुम्हारा और कात्यायनी का बँटवारा कर दूँ।'

मैत्रेयी ने कहा—'भगवन्, यदि सम्पत्ति से भरपूर यह सारी पृथ्वी भी मुझे मिल जाय तो क्या मैं उससे अमर बन सकूँगी?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'नहीं।'

'तब उसे लेकर मैं क्या करूँ, जिससे अमरत्व की प्राप्ति न हो! मुझे तो आप वही दीजिए जिससे मैं अमर बन सकूँ।'

कैसा ज्वलंत आदर्श था! याज्ञवल्क्य ने पत्नी को उस समय आत्मवाद का जो उपदेश दिया वह उपनिषदों के दार्शनिक विचारों का निचोड़ है।†

याज्ञवल्क्य में भारत ने प्राचीन काल का अपना सबसे महान् तत्त्ववेत्ता पाया। शंकर के प्रखर अद्वैतवाद के रूप में आगे चलकर इस देश की दार्शनिक विचारधारा का जो उत्कृष्ट स्वरूप निखरा, उसके आदि निर्माता उपनिषदों के महान् तत्त्व-चिंतक महर्षि याज्ञवल्क्य ही थे।

* देखो, बृहदारण्यक उपनिषद्।

† देखो, बृहदारण्यक उपनिषद्।

सूत्रकार और स्मृतिकार

हमारे देश का प्राचीन वाङ्मय दो बृहत् वर्गों में विभाजित है। एक के अन्तर्गत चारो वेद, ब्राह्मण और उपनिषदो की गणना होती है—ये सब 'श्रुति' के नाम से अभिहित किए जाते हैं। दूसरे में शिक्षा, कल्प आदि वेदाङ्ग (विशेषकर श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र), मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, व्यास, गौतम, वशिष्ठ, नारद आदि के धर्मशास्त्र, रामायण और महाभारत, अठारहों पुराण, और नीति-शास्त्र के विविध ग्रंथों की गणना की जाती है। ये सब 'स्मृति' के नाम से पुकारे जाते हैं। श्रुतियो की तरह स्मृतियों का रचना-काल भी आज से कई हज़ार वर्ष पूर्व आरंभ होता है—वह वैदिक युग से लेकर विक्रमी संवत् के बाद की कई शताब्दियो तक पसरा हुआ है। कहते हैं, जब वेदो की संहिताएँ बनीं, तब साथ ही साथ पुरानी ख्यातों का संग्रह कर एक पुराण-संहिता भी बनाई गई। यह महाभारत-युद्ध के युग की बात है, और अनुश्रुति के अनुसार इस संहिता के निर्माता वेदों के महान् संपादक स्वयं कृष्ण द्वैपायन व्यास ही थे। व्यास ने इस वाङ्मय को संकलित कर रोमहर्षण सूत नामक अपने एक शिष्य के सिपुर्द कर दिया था। सूत रोमहर्षण तथा सुमति, अग्निवर्च्चा, मित्रयु, अकृतव्रण, सावर्णी और शांशपायन नामक उसके चेलों ने आगे चलकर व्यास की इस मूल संहिता की अनेक उपसंहिताएँ बना डालीं, जो कालांतर में १८ पुराणों के रूप में प्रतिष्ठित हो गई और जिनका गाँव-गाँव में स्थापित व्यास-गद्दियों से पारायण किया जाने लगा*। इस विशद पौराणिक अनुश्रुति में प्राचीन गाथाओं, आख्यानों, वंशावलियों, धार्मिक विवादों आदि के रूप में हमारे पुरातन इतिहास, धर्म और समाज व्यवस्था की इतनी बहुमूल्य सामग्री संगृहीत है कि उसकी ओर आधुनिक ऐतिहासिको का भी विशेष रूप से ध्यान खिंचने लगा है। पुराणों का उद्देश्य जनसाधारण को सरल और रोचक ढंग से आर्य्य-धर्म की शिक्षा देना था, साथ ही अपने प्राचीन इतिहास से परिचित करने का भी लक्ष्य उनमे रक्खा गया था। इस प्रकार जो केवल विशेपज्ञों के ही पहुँच की वस्तु थी, वह समस्त लोक के लिए सुलभ हो गई। भारत को पुराणकारों की सबसे बड़ी देन यही है कि उन्होंने युग-युग से संचित ज्ञान-निधि को मानों घर-घर के द्वार की देहली पर लाकर रख दिया!

वैदिक संहिताओं के निर्माण के फलस्वरूप जब भिन्न-भिन्न 'चरणों' में वेदों के ज्ञान और क्रिया-कलाप का गहन अध्ययन होने लगा तब जहाँ एक ओर व्याख्या-ग्रंथों के रूप में 'ब्राह्मणों' की उत्पत्ति हुई, वहाँ मंत्रों के विधिवत् उच्चारण, उनके

* विष्णुपुराण के अनुसार, निम्न १८ महापुराण माने गए हैं—विष्णु, पद्म, ब्रह्म, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वाराह, स्कंद, वामन, मत्स्य, कूर्म, गरुड़, ब्रह्माण्ड और भविष्य। कहीं-कहीं अग्नि के बदले वायु पुराण की गणना की गई है। शाक्त लोग श्रीमद्भागवत के बदले देवी भागवत को ही महापुराण मानते हैं।

अर्थ की मीमांसा, उनमें प्रयुक्त शब्दों की रचना और व्युत्पत्ति तथा उनसे संबंध रखनेवाले अनुष्ठान के उपयुक्त विधान को समझने-समझाने के लिए विशेष प्रकार की कुछ विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं विद्याओं से संबंध रखनेवाले वाङ्मय को 'वेदाङ्ग' कहकर अभिहित किया गया। वेदाङ्ग छः हैं—छंद, ज्योतिष, कल्प, शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण। 'छंद' के अंतर्गत वेदों में प्रयुक्त गायत्री, उष्णिक् आदि वर्णवृत्तों का, 'ज्योतिष' में वैदिक अनुष्ठानों के लिए आवश्यक मुहूर्त्त-ज्ञान का, 'कल्प' में पारिवारिक और सामाजिक धर्मानुष्ठान के विधि-विधान का, 'शिक्षा' में मंत्रों के ठीक-ठीक उच्चारण की विधि का, 'निरुक्त' में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति का, और 'व्याकरण' में उन शब्दों के रूप-रूपान्तर और प्रयोग संबंधी नियमों का विधान किया गया है। इन विद्याओं का आविर्भाव और विकास संहिताओं के ठीक बाद में हुआ था, अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों के बाद हमारे वाङ्मय की यही सबसे प्राचीन कृतियाँ हैं। इनका सबसे अधिक महत्त्व तो इस बात के लिए है कि यही आगे आनेवाले हमारे गणित, ज्योतिष, व्याकरण, धर्म-शास्त्र आदि की नींव हैं। वेदों और उपनिषदों के ऋषियों द्वारा जहाँ इस देश के तत्त्वज्ञान की धारा पहले-पहल उच्छ्वसित हुई, वहाँ वेदाङ्गों के आचार्यों ने हमारे विविध मूलभूत शास्त्रों की नींव डाली। ऋषियों की तरह इन महामनीषियों के भी वैयक्तिक जीवन के बारे में आज अधिक ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, केवल उनमें से कुछ के नाम भर हमें ज्ञात हैं। इनमें 'निघंटु' और 'निरुक्त' नामक अद्वितीय ग्रंथों के रचयिता आचार्य यास्क, शिक्षा और व्याकरण के निर्माता महामुनि पाणिनि और कल्प के अंतर्गत विविध श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र नामक महत्त्वपूर्ण विधानों के प्रणेता आपस्तम्ब, आश्वलायन, शांखायन, बौधायन, लाट्यायन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पाणिनि के संबंध में हमने अन्यत्र लिखा है, यहाँ उनके पूर्वगामी आचार्य यास्क के प्रति श्रद्धाञ्जलि के दो शब्द अर्पित करना अनुपयुक्त न होगा। यास्क न केवल भारत के प्रत्युत् सारे संसार के सर्वप्रथम और सबसे महान् शब्द-शास्त्री हैं। वेदों को समझाने का जैसा प्रयत्न यास्क ने किया वैसा उनके बाद फिर कोई भी न कर पाया। यही कारण है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' की भाँति यास्क का 'निरुक्त' भी भारतीय वाङ्मय के चमत्कारों में गिना जाता है। आश्वलायन, बौधायन, आपस्तम्ब, पराशर, गौतम, याज्ञवल्क्य आदि उन धर्म-सूत्रकारों और स्मृतिकारों के भी हम कम ऋणी नहीं हैं, जिन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की रूपरेखा को विकसित कर हमारे जीवन का नियंत्रण करनेवाले पारिवारिक और जातीय विधान का निर्माण किया।

इस युग में जो रचनाएँ बनीं उनकी सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे अधिकतर सूत्र-शैली में रची गईं, अर्थात् उनमें ऐसे संक्षिप्त वाक्यों का प्रयोग किया गया है जिनमें थोड़े ही में बहुत-सा अर्थ समाया हुआ है—वे 'गागर में सागर' की कहावत चरितार्थ करती हैं। यह भारतीय मस्तिष्क का ही निराला आविष्कार था और हमारे पूर्वजों ने इसे पूर्णता की जिस पराकाष्ठा तक पहुँचाया उसे देखकर सारा संसार आज चकित है!

श्रुतियों की तरह स्मृतियों का भी विगत हज़ारों वर्षों से हमारे देश की संस्कृति के निर्माण में गहरा हाथ रहा है। श्रुतियाँ जहाँ जाति के चिरंतन आदर्शों और जीवन के निखिल सत्य और नित्य ज्ञान का निर्देशमात्र करतीं, वहाँ उनको जीवन में लागू करने के विधि-निषेधात्मक नियमों का विधान स्मृतियों द्वारा ही किया गया है। इन नियमों के नैमित्तिक अंश में समाज के विकास और देश-काल के भेद के अनुसार हेर-फेर भी होता रहा है। इसीलिए समय-समय पर नई-नई स्मृतियाँ बनती रहीं, और उनमें प्रगतिशीलता का भाव सदैव जीवित रक्खा गया। किन्तु जब से हमारे जातीय विधान के सामयिक संस्कार का यह क्रम टूट गया तभी से उसने हमारे लिए मानो बेड़ियों का रूप धारण कर लिया। इसमें दोष वास्तव में हमारे पूर्वजों का नहीं, प्रत्युत् स्वयं हमारा ही है। भागीरथ की तरह उन्होंने जिस लोकपावन समाज-विधानरूपी गंगा की धारा को उच्च आदर्शों से मंडित शिखर से लाकर लोक में प्रवाहित किया था, उसकी प्रगति के प्रवाह को यदि हम जीवित न रख सकें, उसे अवरुद्ध और गँदला कर दें, तो इसमें सिवा हमारे किसका दोष हो सकता है?

पाणिनि

भारतीय संस्कृति के निर्माताओं में पाणिनि का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होने योग्य है। इस देवभूमि में विचरने योग्य मानव का निर्माण और संस्कार जहाँ मनु, वाल्मीकि और व्यास जैसे महापुरुषों के हाथों हुआ, वहाँ उसकी वाणी का वैखरी स्वरूप मुख्यतः महामुनि पाणिनि की ही साधना और तपस्या का प्रसाद है।

पाणिनि भारतीय वाङ्मय के आकाश-प्रदीप हैं। हमारी भाषा और साहित्य का राशि-चक्र पिछले ढाई हज़ार वर्षों में अयनवृत्त के इस छोर से उस छोर को न जाने कितनी बार घूम गया, किन्तु पाणिनि इस बीच मेरु पर अवस्थित अटल ध्रुवनक्षत्र की भाँति बिना हिले-डुले लगातार हमारे मार्ग को आलोकित करते रहे और आज भी वह मानों हमारे तारापथ के अन्त-बिन्दु पर ही अवस्थित हैं।

पाणिनि वैदिक युग के अंतिम आचार्य हैं—उनके साथ हमारे इतिहास के प्रथम पर्व की समाप्ति और एक नवीन अध्याय का आरंभ होता है। दो युगों की संधि-रेखा पर उनके स्थित होने के कारण ही पाणिनि का काल-निर्णय करते समय अनेक आलोचक भ्रम में पड़ गए हैं और फलस्वरूप एक ओर जहाँ हम वेबर और मैक्समूलर को उनकी तिथि ३५० ई० पू० निश्चित करते पाते हैं, वहाँ दूसरी ओर पं० सत्यव्रत सामश्रमी जैसे पंडितों को उस तिथि को २४०० ई० पू० तक पीछे खिसकाते देखते हैं! इस कालावधि के बीच भी अनेक विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न तिथियाँ निर्धारित की गई हैं, जैसे गोल्डस्टूकर और भण्डारकर द्वारा कम से कम ५०० ई० पू०, बेलवलकर द्वारा ६००-७०० ई० पू० और राजवाड़े तथा वैद्य द्वारा ८००-६०० ई० पू०। किन्तु सच पूछिए तो इनमें से कोई भी निश्चित रूप से पाणिनि को तिथि के पाश में नहीं बाँध पाया है।

पाणिनि उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासी थे। बाद के वाङ्मय में उन्हें 'शालातुरीय' के नाम से अभिहित किया गया है। इससे अनुमान किया जाता है कि वह गांधार (आधुनिक उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश) के शालातुर नामक ग्राम में पैदा हुए होंगे। चीनी यात्री युआन च्वाङ ने इस शालातुर का 'सोलोतुलो' के नाम से उल्लेख किया है और उसीसे हमें यह भी ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ईस्वी के समय तक उपरोक्त ग्राम में स्मारक के रूप में पाणिनि की एक प्रतिमा विद्यमान थी तथा व्याकरण के अध्ययन-संबंधी उनकी परंपरा भी वहाँ तब तक जीवित बनी हुई थी। पतंजलि के महाभाष्य में पाणिनि का 'दाक्षीपुत्र' के नाम से भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि उनकी माता का नाम दाक्षी रहा होगा। कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी के अनुसार पाणिनि कात्यायन, व्याडि, और इंद्रदत्त

नामक वैयाकरणों के साथ उपाध्याय वर्ष के यहाँ अध्ययन करते थे। कहते हैं, इनकी बुद्धि आरंभ में कुंठित थी, अतएव जब उन्हें अध्ययन में अधिक सफलता न मिली तो तप द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न कर उनसे उन्होंने वे चौदह आरंभिक सूत्र प्राप्त किए जो 'शिव सूत्र' या 'महेश्वर सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो उनकी व्याकरण के मूल आधार कहे जा सकते हैं। पंचतंत्र की एक गाथा के अनुसार पाणिनि की मृत्यु वन में एक सिंह के आक्रमण के कारण हुई थी। निस्संदेह ये गाथाएँ अतिरंजित हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अधिक मूल्य नहीं है, क्योंकि यह प्रमाणित हो चुका है कि कात्यायन और व्याडि पाणिनि के समकालीन नहीं थे—वे बहुत बाद में हुए थे। किन्तु इनसे पाणिनि की प्राचीन सत्ता, तथा व्याकरण के क्षेत्र में उनकी महत्ता की एक झलक अवश्य मिलती है।

पाणिनि की कीर्ति का अमर स्मारक लगभग चार हज़ार सूत्रों में गठित संस्कृत भाषा का वह अद्भुत व्याकरण-ग्रंथ है, जो आठ अध्यायों में विभाजित होने के कारण 'अष्टाध्यायी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ सूत्र-शैली की पूर्णता की पराकाष्ठा है और इस दृष्टि से संसार के गिने-चुने चमत्कारों या आश्चर्यों में इसकी गणना की जानी चाहिए। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि की यह अष्टाध्यायी मानो अंतिम शब्द है। यों तो इस देश में भिन्न-भिन्न व्याकरण-संप्रदाय रहे हैं, जिनके लगभग ३०० उद्भट आचार्यों के नाम हमें मिलते हैं, और उनमें भी व्याडि, कात्यायन (वररुचि), पतंजलि, वैजि, सौभव, हर्यक्ष, भर्तृहरि, कैय्यट, हेमचंद्र, हरदत्त, भट्टोजि, नागेश आदि प्रतिभाशाली व्याकरणाचार्य पाणिनि के बाद ही हुए। किन्तु इनमें से बहुत कम नवीन मौलिक रचनाओं का निर्माण कर पाए। हेमचंद्र आदि की कुछ कृतियों को छोड़कर जो कुछ भी लिखा गया वह अधिकांश में पाणिनि के ही भाष्य, टीका, व्याख्या, आलोचना, परिवर्द्धन, या संशोधन और परिवर्तन के रूप में है। और तो और, कात्यायन या पतंजलि जैसे प्रकाण्ड वैयाकरण भी पाणिनि के ही आलोचक या भाष्यकार हैं!

व्याकरण के क्षेत्र में भारत की साधना का इतिहास अति प्राचीन है—उसका आरंभ पाणिनि से बहुत पहले हो चुका था। स्वयं पाणिनि ने ही अपने पूर्वगामी शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न, गार्ग्य, काश्यप, गालव आदि विविध वैयाकरणों का उल्लेख किया है। जब वैदिक मंत्रों की भाषा प्राचीन हो चली और उसके अर्थ और स्वरूप को ठीक-ठीक समझने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी तब वैदिक शब्दों और पदों की रचना आदि के संबंध में भी अध्ययन की एक प्रवृत्ति चल पड़ी थी, जिसके उदाहरण आदि 'प्रातिशाख्य' थे। क्रमशः शब्दों की व्युत्पत्ति और रचना की जाँच द्वारा मूल शब्द और धातुएँ छाँटी गईं और उनके रूपांतरों का निरीक्षण कर विविध गण बनाए गए। इसी प्रकार धीरे-धीरे तत्कालीन और प्राचीन संस्कृत का एक विधिवत् व्याकरण तैयार होने लगा, जिसका रूप आरंभ में तो निस्संदेह एक नीहारिका जैसा रहा होगा, किन्तु पाणिनि के हाथों में पहुँचकर जिससे एक सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण वस्तु तैयार हो गई। यही हमारी सुपरिचित अष्टाध्यायी है। किन्तु इसमें जहाँ पाणिनि ने अपनी सारी प्रतिभा उँडेल दी है, वहाँ उसमें वस्तुतः न जाने कितने ही ज्ञात और अज्ञात प्राचीन व्याकरणाचार्यों की तपस्या का भी सार संचित है। अतएव पाणिनि के साथ हम उन सभी के ऋणी हैं।

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त पाणिनि की 'गणपाठ', 'धातुपाठ', 'लिंगानुशासन', 'शिक्षा-सूत्र' आदि अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं, किन्तु ये सभी रचनाएँ पाणिनि की ही हैं, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। व्याकरण के क्षेत्र से बाहर भी पाणिनि कम महत्त्व नहीं रखते। उनकी अष्टाध्यायी में तत्कालीन भारत के इतिहास, भूगोल, साहित्य, धर्म, व्यवहार, भाषा आदि संबंधी अत्यंत मूल्यवान् सामग्री यहाँ-वहाँ बिखरी पड़ी है। इस प्रकार पाणिनि के हाथों में न केवल देवभाषा संस्कृत, प्रत्युत् वैदिक युग की सारी संस्कृति की कुंजी है। वस्तुतः पाणिनि हमारी प्राचीन भाषा के प्रमुख रूप-निर्माता और संसार भर के वैयाकरणों के सम्राट् ही नहीं, बल्कि व्यास, वाल्मीकि, कौटिल्य और शंकर की भाँति भारतीय संस्कृति और ज्ञान की अमर ज्योति के चिरंतन रखवालों में है। इस दृष्टि से भारतवासियो द्वारा इस महापुरुष की जो भी वंदना की जाय वह थोड़ी ही होगी!

षट्दर्शनकार

याज्ञवल्क्य, शंकर, बुद्ध और नागार्जुन की जननी भारतभूमि दर्शन के क्षेत्र में संसार के सब देशो से अधिक उर्वर रही है। जिज्ञासा की पूर्त्ति का वर ही हमारे यहाँ सबसे श्रेष्ठ प्रसाद माना गया और उसकी प्राप्ति के लिए हमारे पूर्वजों ने जो तपस्या की वह मानव इतिहास के सबसे उज्ज्वल पृष्ठों पर अभिलिखित होने योग्य है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अति प्राचीन काल ही में ऋग्वैदिक ऋषियों की वैखरी वाणी के प्रथम स्वरों में ही इस देश की उत्कट जिज्ञासा उद्भासित हुई थी। उनके आरंभ ही के प्रश्न थे—'वह कौन सा वन था और कौन सा वह वृक्ष था जिसकी सामग्री से इस पृथ्वी और आकाश की रचना हुई ?' 'किसने उस पहलेपहल जन्म लेनेवाले को देखा ?' * उपनिषदो में आकर तो इस जिज्ञासा ने और भी प्रखर रूप धारण कर लिया और हमारे पूर्वजों के वे आरंभ के प्रश्न अब ब्रह्म-विषयक एक महत् प्रश्न या संप्रश्न में परिणत हो गए। किन्तु अभी हमारे देश की दार्शनिक विचारधारा को एक पद्धतियुक्त शास्त्रीय रूप नहीं मिल पाया था। समय बीतते जब यह ज्ञान-राशि बढ़ने लगी और गहन चिंतन व मनन के फलस्वरूप उसके विविध पहलू सामने आने लगे, तब अन्य विद्याओ की तरह इसको भी एक पद्धतिमूलक शास्त्र का रूप देने का यत्न किया गया। यह नवीन विद्या 'आन्वित्तिकी' या 'दर्शन' के नाम से अभिहित की गई और इसी से आगे चलकर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त नामक वे छः शाखाएँ फूट निकलीं, जिनका आज 'षट्दर्शन' के नाम से उल्लेख किया जाता है। अनुश्रुति के अनुसार इन दर्शनो के निम्न महापुरुष आदि प्रणेता स्वीकार किए गए हैं—न्याय के गौतम, वैशेषिक के कणाद, सांख्य के कपिल, योग के पतंजलि, मीमांसा के जैमिनि और वेदान्त के बादरायण व्यास। न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, सांख्यप्रवचन-सूत्र, योग-सूत्र, मीमांसा-सूत्र और वेदान्त या ब्रह्म-सूत्र नामक इन दर्शनो के छः आधारभूत आदिग्रंथ भी क्रमशः इन्हीं महापुरुषों की रचनाएँ मानी जाती हैं। इनमें सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल संभवतः सबसे प्राचीन हैं। कपिल को हमारे यहाँ आदि विद्वान् माना गया है। महाभारत मे उनका सांख्य के पुरातन प्रवक्ता के रूप में उल्लेख पाया जाता है। कहीं वह ब्रह्मा के पुत्र बताए गए है तो कहीं उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार कपिल अग्नि के अवतार थे। सांख्य-कारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण ने अपने आपको कपिल, आसुरि और पंचशिख की ही महत्त्वपूर्ण परंपरा का अनुयायी माना है। महाभारत में भी कपिल, आसुरि, पंचशिख, गार्ग्य और उलूक की शिष्य-परंपरा का वर्णन है। आसुरि का तो शतपथ ब्राह्मण मे भी उल्लेख पाया जाता है। और तो और, बौद्ध गाथाओ में भी कपिल के बुद्ध

* देखो ऋग्वेद संहिता (१।१६४।४; १०।८१।२-४)।

तक चौबीस तीर्थंङ्कर हुए, जिनमें अंतिम दो—पार्श्वनाथ और महावीर—की ऐतिहासिक सत्ता तो पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। यद्यपि जैन धर्म की परम्परा अति प्राचीन है—उसके प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का तो यजुर्वेद एवं विष्णु-पुराण, श्रीमद्भागवत आदि वेदानुयायी ग्रंथों तक में उल्लेख है; किन्तु इस मत का यथार्थ स्वरूप उसके अंतिम दो तीर्थङ्करों के ही समय में निखरा। पार्श्व महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे। महावीर बुद्ध के समकालीन थे। महावीर की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ क्रमशः ५९९ और ५२७ ईस्वी पूर्व मानी जाती हैं। बुद्ध की तरह महावीर भी एक राजकुमार थे। वह वृजि-गण के ज्ञात्रिक कुल के थे। उनके पिता सिद्धार्थ कौण्डिन्यपुर के राजा थे और माता त्रिशला मगध के वैशाली राज्य के पराक्रमी लिच्छवी नरेश की कन्या थी। 'जिन' या 'महावीर' उनका जन्म-नाम न था। ये उनको उनके अनुयायियों द्वारा दी गई वैसी ही उपाधियाँ हैं जैसे 'बुद्ध' गौतम की। वह 'वर्धमान', 'निगण्ठ ज्ञातपुत्त' या 'अर्हत्' कहकर भी पुकारे जाते थे। बुद्ध की तरह महावीर का भी विवाह हुआ और उनके अनोज्जा या प्रियदर्शना नामक एक कन्या भी हुई। किन्तु आरंभ ही से वह शांत और उदासीन प्रकृति के थे, अतएव तीस वर्ष की आयु में ही स्त्री-पुत्री और वैभव छोड़कर विरक्त हो वन को चल दिए, जहाँ बारह वर्ष की कठोर तपस्या के बाद उन्हें कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद महावीर ने जीवन के शेष ३० वर्ष घूम-घूमकर अपने मत के प्रचार में ही बिताए। वह अपने को अपने पूर्वगामी २३ तीर्थङ्करों के ही मत के प्रतिपादक कहते और पार्श्वनाथ के अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और अस्तेय नामक चार नियमों के साथ 'ब्रह्मचर्य' पर भी ज़ोर देते हुए मोक्ष-मार्ग की शिक्षा देते थे। उनके धर्म में 'अहिंसा' का सिद्धान्त मुख्य था। जब बहत्तर वर्ष की आयु में उन्होंने पावा नामक स्थान में अपना शरीर छोड़ा, उस समय तक उनके अनुयायियों का एक सुदृढ़ संघ बन चुका था। महावीर के शिष्यों में गौतम इन्द्रभूति और सुधर्मन् मुख्य थे। उनके बाद जम्बुस्वामी, स्वयम्भव, भद्रबाहु और स्थूलभद्र प्रसिद्ध आचार्य हुए। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में पाटलिपुत्र में जैन-सिद्धान्तों को शास्त्रीय रूप देने के लिए एक संगीति जुटी, किन्तु उनको अंतिम रूप ४५४ ई० में वलभी में देवर्धि के सभापतित्व में नियोजित संगीति में प्राप्त हुआ। इन धर्मग्रंथों की कुल संख्या ८४ है, जिनमें ४१ सूत्र, अनेक प्रकीर्णक, १२ निर्युक्ति, और एक महाभाष्य है। सूत्रों में ११ अंग, १२ उपांग, ५ छेद, ५ मूल और ८ प्रकीर्ण रचनाएँ हैं। इनकी भाषा अर्द्ध-मागधी है। चंद्रगुप्त मौर्य्य के समय में भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन श्रमणों की एक टोली प्रचार के लिए दक्षिण पहुँची। कहते हैं, स्वयं सम्राट् चंद्रगुप्त ने भी जैन मत को स्वीकार कर लिया था। आगे चलकर गंग, कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट आदि राज-वंशों द्वारा इस मत को और भी प्रबल संरक्षण मिला, जिससे स्थान-स्थान में जैन देवालय, स्तूप, आदि उठ खड़े हुए। साहित्य में जैनियों ने प्राकृत भाषाओं के विकास में बड़ी सहायता प्रदान की। हेमचन्द्र जैसे प्रकाण्ड विद्वान् जैन ही थे। वस्तुतः भारत के निर्माण में जैनों का भी काफ़ी हाथ रहा है और आज भी जैन धर्म अपने अनेक कलापूर्ण स्मारकों और विशद वाङ्मय को लिये हुए लाखों अनुयायियों के लिए एक प्रकाशस्तंभ बना हुआ है, यद्यपि उसमें दिगंबर, श्वेतांबर आदि संप्रदाय बन गए हैं और बाहरी आडंबर बढ़ गया है।

जैन धर्म अनीश्वरवादी है। 'स्याद्वाद' नामक उसकी दार्शनिक विचारधारा के अनुसार एक ही वस्तु में सत्व-असत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, सादृश्य-विरूपत्व आदि उभय धर्मों का आरोप किया जाता है। जैनी एक प्रकार के कर्मवाद में विश्वास करते और 'पुद्गल' या कर्म के आवरण से छुटकारा पाकर मोक्ष या कैवल्य स्थिति की प्राप्ति ही परम लक्ष्य मानते हैं। किन्तु उनके दार्शनिक विचारों से अधिक महत्त्वपूर्ण तो उनका वह नैतिक विधान है, जिसकी धुरी 'अहिंसा' का परम सिद्धान्त है। संसार को जैन धर्म और उसके प्रस्थापकों की यही सबसे बड़ी देन है। आज दिन महात्मा गांधी सारी मनुष्य-जाति का जिस महत् आदर्श को अपनाने के लिए आवाहन कर रहे हैं, उसकी महत्ता पर सर्वप्रथम सबसे अधिक ज़ोर जैन तीर्थङ्कर पार्श्व और महावीर ने ही दिया था। इस दृष्टि से न केवल भारत प्रत्युत् संसार के गिने-चुने महान् पथ-प्रदर्शकों में उनका स्थान है।

गौतम बुद्ध

ढाई हज़ार वर्ष पहले की बात है। गया के समीप के निविड़ कानन में उरुवेला या उरुविल्व नामक स्थान के पास निरंजरा के तट पर पीपल के एक पेड़ के नीचे एक युवा तपस्वी पलथी लगाए बैठा था। उसकी देह सूखकर कंकालवत् हो गई थी। रीढ़ की हड्डियाँ उभरकर मनकों की माला की तरह दिखाई देने लगी थीं। पेट पिचककर पीठ की दीवार से जा लगा था। आँखें भीतर धँस-सी गई थीं। रोएँ और बाल झड़ गए थे। शेष था केवल त्वचा की एक विवर्ण पतली झिल्ली से मढ़ा हुआ उसका जीर्ण-शीर्ण अस्थि-पंजर और उसमें अटका हुआ वह प्राण-वायु जो उस चेतना-शून्य कलेवर में एक धीमे मंद स्पंदन का स्वर जगाए हुए था। कितने दिन बीत गए उसे इसी प्रकार अपनी देह और मन की विपञ्ची के तार कसते! एकछत्र राजवैभव, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, परिवार-स्वजन सभी का तो फटे वस्त्र की तरह त्याग कर चुका था वह! अन्न-जल तक तो छोड़ चुका था! यदि लगन थी तो एक ही। उसे निर्वाण चाहिए—परिनिर्वाण, मुक्ति! जरा-मरण, रोग-व्यथा, कोलाहल और परवशता से व्याप्त इस संसृति के बंधन से छुटकारा! किन्तु कहाँ था उसके उस संप्रश्न का उत्तर, जिसे खोजने वह बरसों पूर्व उस दिन आधी रात को ममता के सभी बंधन तोड़, यौवन

के आसव का कलश ठुकरा, नवप्रसूता पत्नी के शयनकक्ष में से एक झटके के साथ निकल पड़ा था; जिसकी गुरुता के आगे उसने सद्यःजात तनय की पुकार को भी कुछ न गिना था; जिसके लिए सभी मतों और पंडितों के द्वार वह खटखटा चुका था और शास्त्रों तथा दर्शनों के तमाम पन्ने उलट चुका था. जिसकी आशा में वनों, आश्रमों, तीर्थों और गुरु-कुलों की खाक छानकर अंत में घोर तपस्या और अनशन द्वारा अपने शरीर तक को सुखाकर मानों कंकाल बना लिया था? बरसों हुए, कपिलवस्तु की अपनी उस अतुलित वैभव और विलास की दुनिया से बाहर झाँकने पर जरा, व्याधि और मृत्यु के अनवरत चक्र के प्रतीकों के रूप में कमान की तरह कमर झुकाए एक बूढ़े, एक रोगी और एक शव को देखकर उसके मन में पहलेपहल जो यह प्रश्न उठा था कि आखिर मनुष्य—सब प्राणी—दुःखी क्यों हैं, क्या सचमुच ही उस प्रश्न का कोई उत्तर न था? तब यह व्यर्थ का तप, यह दार्शनिक उधेड़-बुन, यह ज्ञान और साधना की ऊहापोह क्यों?

समीप ही वनप्रान्तर में से होकर नाचते-गाते चली जा रही उरुविल्व की कुछ ग्रामीण बालाओं के एक गीत का स्वर एकाएक उसके कानों में गूँज उठा—'विपञ्ची का तार ढीला न करो, वरना वह बजेगा नहीं और न उसे इतना कसो ही कि वह टूट जाय!' तपस्वी की जीर्ण काया में सहसा एक कंपन पैदा हुआ। उसकी समाधि टूट गई। वनबालाओं के उस गीत के स्वर उसके अंतराल में प्रवेश कर मानों पूछ बैठे—अब और कितना कसोगे अपनी वीणा के तार? बहुत अधिक कस चुके हो; इससे ज्यादा वे नहीं कसे जा सकते—इससे ज़रा भी अधिक खींचने पर अब अवश्य ही वे टूट जायँगे!

वह उठा और स्नान कर अनशन तोड़ने के लिए वृक्ष के नीचे आ बैठा। उसका यह परिवर्त्तन देख उसके वे पाँचों ब्रह्मचारी साथी, जो आचार्य राम-पुत्त उद्दक के आश्रम से तप के लिए उसके साथ हो लिये थे, भड़क उठे और उसे वहीं अकेला छोड़ वाराणसी के निकट मृगदाव नामक स्थान को चल दिए। किन्तु इससे उसका उत्साह भंग न हुआ। अकेला ही अब वह निरंजरा के तट पर भिक्षा पा एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के नीचे विचारमग्न भट-कता रहता। उसने शरीर को व्यर्थ कष्ट देना छोड़ दिया। नीहारिका की भाँति अब एक बिल्कुल ही नई विचारसृष्टि वाष्पीभूत अवस्था में उसके अंतराल में कुंडलाकार घूमने लगी थी। रह-रहकर वनबालाओं के वही स्वर उसके मानसतल को झंकृत करते रहते—'वीणा का तार ढीला न करो, वरना वह बजेगा नहीं, और न उसे इतना कसो ही कि वह टूट जाय।' अति या 'अंत' का त्याग, मध्यम-मार्ग का ग्रहण—न अनर्थकारी विषय-सुख में ही डूब जाना, न घोर तप द्वारा व्यर्थ में शरीर को ही कष्ट देना—यही इस निरंतर परिवर्त्तनशील नश्वर जगत् में उसे सांत्वना का अब एकमात्र उपाय दिखाई देने लगा था।

तब आई वैशाखी महापूर्णिमा की वह रात, जब उरुविल्व की नवविवाहिता श्रेष्ठि-कन्या सुजाता पुत्र-कामना के लिए वन-देवता के भरोसे उसे अपने व्रत की खीर या पायस खिला गई और स्वस्थ हो वह फिर पलथी मार पीपल के पेड़ के नीचे यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके बैठा कि आज अपने प्रश्न का उत्तर पाए बिना आसन से न उठूँगा। बैठते ही प्रकाश और अंधकार की प्रवृत्तियों में तुमुल द्वंद्व मच गया! वासना, तृष्णा, क्षोभ, और विक्षेप की सेना ले 'मार' मानों एकबारगी ही उस पर टूट पड़ा। उत्ताल तरंगें उठीं और मानसाकाश में घटा-टोप छा गया। भावनाओं का एक बवण्डर हहराता हुआ अंतस्तल में मँडराया और कभी न अनुभव किए गए एक हड़कम्प से क्षण भर के लिए उसकी काया सिहर उठी। किन्तु वह न डिगा! अविचलित, शान्त, स्थिर वह मुसकराता ही रहा, उसकी समाधि भंग न हुई। परीक्षा समाप्त हो गई। अब भीतर और बाहर चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश था। उसके महत् प्रश्न का उत्तर उसे मिल चुका था। अब वह कपिलवस्तु का राजकुमार सिद्धार्थ, तपस्वी गौतम, नहीं रह गया था—वह था सम्यक् सम्बोधि-प्राप्त 'बुद्ध', जिसे 'बोधिवृक्ष' की पुनीत छाया में निरंजरा के तट पर आज उस शाश्वत सत्य की झलक मिल गई थी, विगत अनेक बरसों से जिसके लिए वह यहाँ से वहाँ भटका-भटका फिरता रहा। न केवल उसके ही निजी जीवन प्रत्युत् सारी मानव जाति के इतिहास में वह दिवस कितनी महान् और अपूर्व विजय का दिन था!

नवनीत की तरह इस प्रकार जो सत्य उसके अंतराल में निखरा, उसे अब यह संन्यासी घर-घर बाँटने चला। उसे याद आए सबसे पहले अपने वे पाँच साथी—पंच भद्रवर्गीय—जो उसे तप से विचलित होते देख रुष्ट हो उरुवेला से चल दिए थे। ऋषिपित्तन के मृगदाय (आधुनिक सारनाथ) में उसने उन पाँचों को जा खोजा। पाँचो ने इस भिक्षु को आते जब देखा तो वे सोचने लगे कि उसका स्वागत-सत्कार न करें—उसे न प्रणाम करें, न उसका कमंडलु ही लें, न बैठने को आसन ही दें। किन्तु जब वह समीप आया तो उसकी तेजस्वी मुखमुद्रा और प्रकाशमान् व्यक्तित्व ने एकाएक उनके सारे निश्चय बदल दिए। अप्रयास ही कोई आसन बिछाने लगा तो किसी ने कमंडलु लेने को हाथ बढ़ाया! सबके सिर उसके आगे झुक गए—वे चकित थे कि उनका साथी गौतम किस अप्रतिहत तेज से प्रकाशित हो आज एकबारगी ही यों सूर्य की तरह दमकने लगा था!

बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ, संन्यासी को दो प्रकार की अति से बचना चाहिए। वे दो अति क्या है? एक तो है अतिशय विलास और विषय-सुख का मार्ग, जो पतन की ओर ले जानेवाला, अनार्य्य और अनर्थकारी मार्ग है, दूसरा है अतिशय तप और शरीर को व्यर्थ में यंत्रणा देने का मार्ग—वह भी उतना ही उपेक्षणीय और अनर्थकर है। इन दोनों को त्यागकर तथागत (बुद्ध) ने मध्यमा प्रतिपदा अर्थात् एक मध्यम मार्ग पाया है, जो सम्बोधि, ज्ञान, शांति और निर्वाण का मार्ग है। यह सरल धर्म-मार्ग 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' है, जिसके आठ अंग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम या उद्योग, सम्यक् स्मृति या विचार और सम्यक् समाधि या ध्यान।'

पाँचों भिक्षुओ ने प्रणिपात किया। बुद्ध ने उन्हें धर्म-तत्त्व समझाया। वे दीक्षित हुए। इस प्रकार ऋषिपित्तन के मृगदाय मे जो धर्म का अभूतपूर्व चक्र चला, वही बुद्ध का 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहा जाता है। उनका यह आर्य अष्टांगिक मार्ग वास्तव में कोई नया दार्शनिक सिद्धान्त न था। इस धर्म की सरल शान्तिवादी विचारधारा की सभी बातें प्राचीन भारतीय धर्म में विद्यमान थीं, जिसकी बहुत-कुछ झलक हमें उपनिषदों के विचारो में मिल चुकी है। केवल कर्मकाण्डियो के ढोंग-आडम्बर के जाल में उलझकर पिछले दिनो से लोगो की निगाह से उसकी रूपरेखा छिप-सी गई थी। बुद्ध की सरल निष्कपट वाणी ने उसे मानो फिर से उबार लिया। उनका संदेश जनता के हृदय में गहरा पैठ गया, जिससे भारतीय जीवन मे गहन नैतिक परिवर्त्तन प्रस्तुत हो गया। यही बुद्ध की महान् क्रान्ति थी। किन्तु उनका विद्रोह वस्तुतः मूल भारतीय धर्म के प्रति नहीं, प्रत्युत् उसके तात्कालिक प्रचलित रूप के प्रति ही था। इसीलिए उन्होंने अपने इस मत को 'आर्य मार्ग' कहकर अभिहित किया था। वह पंडितो की भाषा छोड़कर जनसाधारण की सरल बोली में ही उपदेश देते। अतएव शिक्षित और अशिक्षित, स्त्री और पुरुष, धनी और निर्धन सभी के लिए उनकी वाणी एक तीर्थ बन गई। क्रमशः उनके शिष्यों और अनुयायियों की संख्या जब बढ़ चली—वे पाँच से साठ हो गए—तब इस नवीन मत के प्रचार के लिए उन्होंने अपने शिष्यो का एक संघ के रूप में संगठन कर दिया। उन्होने उन सबको धर्म की पूर्ण शिक्षा देकर परिव्राजकों की तरह घूमते-फिरते हर जगह उसका प्रचार करने का आदेश दिया। इस भिक्षु-संघ के अनुशासन के लिए ऐसे कड़े नियम उन्होंने बना दिए जिससे उसकी दृढ़ता, पवित्रता और निरंतर विकास में कभी कोई अंतर न आने पाए। शिष्यों की तरह स्वयं बुद्ध भी उपदेश और प्रचार के लिए निकल पड़े और सबसे पहले उरुवेला पहुँचे, जहाँ बिल्वकाश्यप, गयकाश्यप और नदीकाश्यप नामक तीन प्रकाण्ड वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को उन्होंने अपना अनुयायी बनाया। राजगृह मे शैशुनाक राजा श्रेणिक बिम्बिसार उनकी चरणधूलि लेने दौड़ पड़ा। वहीं सारिपुत्त और मोग्गलान नामक वे दो महान् विद्वान् दीक्षित हुए, जो आगे चलकर बुद्ध के प्रधान शिष्य और बौद्ध-संघ के अग्रनेता बन गए।

संघ के कार्य के साथ-साथ उसकी ख्याति भी बढ़ चली और अब जगह-जगह से उसे उपदेश के लिए निमंत्रण मिलने लगे। राजगृह ही में कपिलवस्तु के शाक्यों की ओर से भी एक निमंत्रण मिल

चुका था। बुद्ध गए, संघ के साथ। शाक्यों की नगरी के शृङ्गार का आज क्या ठिकाना था—एक युग के बाद उसका हृदय-सम्राट् आज वापस घर जो आ रहा था! किन्तु जब हाथ में खप्पड़ लिये गौतम राजमार्ग पर चले तो जनता की आँखों से शत-शत अश्रुधाराएँ बह चलीं। शाक्यराज शुद्धोदन (गौतम के पिता) उन्हें महल में लिवा ले गए। वहाँ सब तो थे पर यशोधरा (गौतम की पत्नी) न थी। तब सारिपुत्त और मोग्गलान के साथ बुद्ध स्वयं पत्नी के भवन में गए। वह ढुलक पड़ी उनके चरणों पर और लगी अनमोल आँसुओं से उन्हें धोने! राहुल से उसने कहा—'यही हैं तुम्हारे पिता! अपना पितृ-दाय माँगो।' बुद्ध ने सारिपुत्त से राहुल को प्रव्रज्या देने को कहा। तीन बरस बाद शुद्धोदन का स्वर्गवास हो गया। तब प्रजावती (गौतम की सौतेली मा) और यशोधरा अनेक शाक्य स्त्रियों के साथ संघ में प्रविष्ट होने के लिए बुद्ध के पास वैशाली पहुँचीं। बुद्ध हिचकिचाए, किन्तु आनन्द (बुद्ध के सबसे प्रिय शिष्य) के ज़ोर देने पर भिक्खुनी-संघ की स्थापना हो गई। इन भिक्खु और भिक्खुनिओं ने तथागत के दिव्य संदेश को घर-घर पहुँचा दिया। स्वयं बुद्ध भी ४५ वर्ष तक कभी राजगृह तो कभी वैशाली, कभी कपिलवस्तु तो कभी श्रावस्ती में टिककर तथा गाँव-गाँव घूम-फिरकर अपनी वाणी सुनाते रहे। इसी प्रकार जनता के हृदय पर राज्य करते हुए उनके महान् जीवन का अंतकाल समीप आ पहुँचा। हिरण्यवती (गंडक) के पार कुसिनारा के समीप के मल्लों के शालवन में धर्म-चर्चा करते हुए अंत में ४८८ ईस्वी पूर्व अस्सी वर्ष की आयु में उन्होंने आँखें बंद कर लीं। इस प्रकार सत्य का वह अन्वेषक संसार में एक ज्योति प्रज्ज्वलित कर महानिर्वाण के अनंत सागर में लीन हो गया। उसके अंतिम शब्द थे—'संसार की सब वस्तुओं का निर्माण हुआ है, अतएव उनका नाश भी अनिवार्य है। तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्रमाद न करना।'

कुसिनारा के मल्लों ने उनका शरीर-दाह किया। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधि आए, और बुद्ध की अस्थियाँ आठ भागों में बाँटी गईं। प्रत्येक भाग पर एक-एक स्तूप निर्मित हुआ। इसके बाद तो एक ऐसी आँधी आई कि कुछ ही शताब्दियों में भारत से चीन, तिब्बत, मंगोलिया, जापान, कोरिया, स्याम, ब्रह्मदेश, सिंहल, और मध्य एशिया तक सब कहीं बुद्ध का साम्राज्य स्थापित हो गया! साँची और सारनाथ के स्तूप उठे। अजंता और बाघ की गुफाएँ चित्रित की गईं। लुम्बिनी, गया, ऋषिपत्तन और कुसिनारा पवित्र तीर्थस्थल बन गए! भारत के इतिहास में न जाने कितने नए अध्याय जुड़े। किन्तु यहाँ स्थान नहीं कि उनकी पूरी कहानी समा सके।

बुद्ध के परिनिर्वाण के शीघ्र ही बाद एक संगीति जुटी थी, जिसमें उनकी वाणी, विचार और जीवन-घटनाएँ उपालि, काश्यप और आनन्द नामक उनके शिष्यों के प्रमाणानुसार लेखबद्ध की गईं थीं। इस तरह जो वाङ्मय बना, वह आज 'त्रिपिटक' के नाम से प्रख्यात है। उसके तीन मुख्य भाग हैं—विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। विनयपिटक में आचार-संबंधी नियम हैं। इसके तीन भाग हैं—विभङ्ग, खन्धक और परिवार। सुत्तपिटक में धर्म्म की शिक्षा है। इसके पाँच निकाय हैं—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, अंगुत्तर निकाय, संयुत्त निकाय और खुद्दक निकाय। अभिधम्मपिटक में धर्म की दार्शनिक और आध्यात्मिक विवेचना है। इसके सात ग्रंथ हैं—धम्मसंगनि, विभंग, धातुकथा, पुग्गल पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। ये सब ग्रंथ पाली भाषा में हैं। आगे चलकर इस वाङ्मय का और भी विकास हुआ और बौद्ध मत की महायान, हीनयान तथा वज्रयान नामक शाखाएँ फूट निकलीं, जिससे उसमें भक्ति-भावना और तांत्रिक विचारों ने प्रवेश कर लिया। तभी से देवालयों में बुद्ध की मूर्त्ति स्थापित कर उपासना भी होने लगी और बौद्ध मत जटिल अनुष्ठानों का जंजाल बन गया।

कपिलवस्तु और देवदह के बीच लुम्बिनी के वन में प्रसव के सात ही दिन बाद प्रयाण कर जानेवाली माता महामाया की कोख से उनके जन्म की घटना से लेकर महाभिनिष्क्रमण, संबोधि और महानिर्वाण तक की बुद्ध की सारी जीवन-कहानी मानव इतिहास की सबसे महान् साथ ही सबसे करुण कहानी है। बुद्ध की करुणामय मूर्त्ति की भाँति उनका जीवन और संदेश भी एक अपूर्व करुणरस से सिंचित है। करुणा ही उनकी सबसे बड़ी देन है और सत्य एवं अहिंसा पर जीवनदान ही उनका महत्तम आदर्श!

कौटिल्य

पराधीनता की वेड़ियो में जकडे भारत के कर्ण-पट पर चौवीस शताब्दी पूर्व की एक घोषणा के स्वर निरन्तर टकरा रहे हैं—'न त्वेवार्यस्य दासभावः' अर्थात्, 'आर्य दास या गुलाम नहीं वनाया जा सकता!' पतन की काल-निद्रा में मूर्छित इस देश की आत्मा को कंपित कर देनेवाली यह किस महामनीषि की आवाज़ है? अब तक तो हम इहलोक-परलोक, प्रकृति-पुरुष, कैवल्य-निर्वाण, प्रमेय-प्रमाण आदि का ही प्रवचन सुनते रहे; अव यह जाति के राजनीतिक उत्थान और विजय का मंत्र लेकर कौन हमारे सामने आ रहा है?

आइए, उससे परिचय पाने के लिए चौवीस सौ वर्ष पीछे लौट चलें। सिकंदर के नेतृत्व में ग्रीक पंजाव को रौंदते हुए विपासा (व्यास नदी) के तट तक आ धमके हैं! यह पहला ही मौका है जव भारत का तोरण-द्वार विदेशी शत्रु की शक्ति के आगे झुक पड़ा है। आर्य जाति अस्त-व्यस्त है, विक्षुब्ध! क्योंकर उसकी शक्ति के विखरे तार फिर से गॅठकर देश में शांति और सुरक्षितता स्थापित हो?

आँखों में एक स्वप्न और हृदय में महत्त्वाकांक्षा की एक चिनगारी लिये धुन के पक्के दो युवक—एक ब्राह्मण और एक निर्वासित राजकुमार—इसी प्रश्न का हल खोजने के लिए घर से निकल पड़े। एक सुदूर गांधार के तक्षशिला नगर का निवासी था तो दूसरा मगध के पाटलिपुत्र का। एक की मेधा मानों फटी पड़ती थी तो दूसरे की भुजाएँ। दोनों ही के मन में अपनी मातृभूमि की आत्मा को जगाकर हिमालय से समुद्रपर्यन्त सहस्रयोजन-व्यापी एक 'चातुरन्त राज्य' के कलेवर में प्रतिष्ठापित करने की धुन समाई हुई थी। तव दैवयोग से एक दिन दोनों का समागम हो गया और दोनों ने एक-दूसरे में अपने-अपने प्रश्न का हल पा लिया। स्वप्न पूरा हुआ। मगध से नंद का राज्य विखरा, और उसके ध्वंसावशेषों पर गांधार से मगध तथा हिमालय से नर्मदा तक सुविस्तृत एक विशाल साम्राज्य उठ खड़ा हुआ, जिसका प्रधान आचार्य था तक्षशिला का वही महामेधावी ब्राह्मण विष्णुगुप्त कौटिल्य और अध्यक्ष था उसका साथी मगध का वह राजन्य चंद्रगुप्त मौर्य्य। सिकंदर की सेना तो पहले ही न जाने क्यों भय खाकर उल्टे पैरों लौट गई थी, किन्तु उसी के एक सेनापति सेल्यूकस निकातोर ने पश्चिमी और मध्य एशिया को हथियाकर जव पुनः भारत पर दॉत जमाना चाहा तव न केवल उसे अपने साम्राज्य के चार वड़े-वड़े प्रान्तों की ही भारत को भेंट चढ़ानी पड़ी, वल्कि विवाह में चन्द्रगुप्त को अपनी एक पुत्री भी देने के लिए विवश होना पड़ा। यही नहीं, मेगस्थनीज़ नामक उसका एक राजदूत तव से पाटलिपुत्र के मौर्य्य दरवार में वरसों हाज़िरी भी देता रहा!

भारत के इतिहास में जव-जव भी इस प्रकार के गौरवशाली युग आए तभी जाति की ब्राह्म और क्षात्र नामक दो मूलभूत शक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में एक ही युग में प्रायः साथ-साथ वाल्मीकि और रामचन्द्र, व्यास और कृष्ण, याज्ञवल्क्य और जनक, कालिदास और विक्रमादित्य,

रामदास और शिवाजी जैसे दो-दो महापुरुषों का आविर्भाव हुआ था। कौटिल्य और चन्द्रगुप्त की भी ऐसी ही एक अद्भुत जोड़ी थी। इन युगल महापुरुषों की प्रतिभा से आज से चौबीस सौ वर्ष पूर्व इस देश को जो राष्ट्रीय रूप मिला था वह तो आज अतीत की एक कहानी भर रह गई है, किन्तु उसमें जो आदर्श निहित था उसकी रूपरेखा कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में सदा के लिए अंकित कर दी है। यही उनकी सबसे बड़ी देन है। भारत के सिंहद्वार पर स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य जो स्वातंत्र्य-सूत्र हमने ऊपर उद्धृत किया है वह उपरोक्त ग्रन्थ में उल्लिखित राष्ट्र-निर्माता कौटिल्य का ही एक मंत्र है।

कौटिल्य का ही एक और नाम चाणक्य भी था। चाणक्य का नाम भारतीय परम्परा में अमोघ राजनीतिक बुद्धि-कौशल का प्रतीक बन गया है। विष्णुपुराण, जैन नंदी-सूत्र, बुद्धघोषकृत विनय-पिटक की टीका, महानाम स्थविर-विरचित महावंश की टीका, मृच्छकटिका नाटक, कामन्दककृत नीतिसार, पंचतंत्र, आदि अनेक ग्रंथों में चाणक्य का उल्लेख है। महाकवि दण्डिन् ने तो आचार्य विष्णुगुप्त के दण्डनीति पर छः हज़ार श्लोकों में बद्ध उस ग्रंथ का ही स्पष्ट उल्लेख किया है, जो कौटि-लीय अर्थशास्त्र के अतिरिक्त और कोई नहीं है। कथा-सरित्सागर, चाणक्य-कथा और मुद्राराक्षस नाटक में कौटिल्य की एक जीवनी भी गढ़ डाली गई है, जिससे ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र का रच-यिता न केवल मस्तिष्क का ही धनी था, बल्कि एक बाँकी प्रतिज्ञावाला व्यक्ति भी था। कहते हैं, जब चंद्रगुप्त की पहलेपहल चाणक्य से भेंट हुई तब वह पैरों में एक कुश के चुभ जाने के कारण अपनी कुटिया के सामने की कुश की तमाम जड़ों को खोद-खोदकर उसका नामनिशान मिटाने में व्यस्त थे! सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण अतिथि के आसन पर बैठ जाने पर नंद ने जब आसन से उठाकर उनका अपमान किया तब क्रुद्ध होकर चाणक्य ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक नंदों का नाश न कर लूँगा शिखा न बाँधूँगा। नंदों के विनाश के बाद उनके राक्षस नामक चतुर मंत्री को किस प्रकार चाणक्य ने वश में किया इसकी कहानी मुद्राराक्षस में है। इन कथाओं का ऐतिहासिक मूल्य क्या है, यह कहना तो कठिन है, किन्तु इनमें हमें कौटिल्य की अद्वितीय राजनीतिक बुद्धि, कूटनीति, दृढ़ता, मेधा और अमोघ संकल्प-शक्ति की झलक अवश्य मिलती है।

चाणक्य के नाम से नीति-शतक, नीति-सार, लघुचाणक्यराजनीतिशास्त्र, वृद्धचाणक्यराजनीति-शास्त्र, चाणक्य-श्लोक, चाणक्य-सूत्र आदि अनेक कृतियाँ मिलती हैं, किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र उन सबमें सिरमौर है। यह ग्रंथ १० अधिकरण और ५० अध्यायों में विभाजित है। दुर्भाग्य से पिछली कुछ शताब्दियों से यह ग्रंथ विलुप्त-सा हो गया था—उसकी कोई प्रति प्राप्त न थी। किन्तु जब इसी शताब्दी के आरंभ में तांजोर के एक पंडित ने मैसूर के सरकारी प्राच्य-पुस्तकालय को एक प्राचीन हस्तलिखित पांडुलिपि भेंट की तो कौटिल्य का वह छः हज़ार श्लोकवाला अद्भुत अर्थशास्त्र पुनः हमारे हाथों में आ गया! इस महत्त्वपूर्ण खोज ने प्राचीन भारत-संबंधी ऐतिहा-सिक अनुसंधान के क्षेत्र में क्रान्ति प्रस्तुत कर दी है, जिससे पंडितों की अनेक मनमानी प्रस्थापनाएँ उलट गई हैं। कौटिल्य का यह अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीति का सबसे महान् ग्रंथ है। उसमें न केवल राज्य-संस्था का रूप, राजा का कर्त्तव्य, शासन-तंत्र की रचना, तथा सेना, कोष, न्याय, रक्षा, कर, दण्ड, नीति आदि संबंधी विधान ही है, प्रत्युत् जीवन में धर्म के साथ-साथ अर्थ की ऊँचाई का प्रतिपादन भी है। मनु की तरह कौटिल्य भी कठोर अनुशासन के समर्थक हैं—वह भी दण्ड की परम सत्ता में विश्वास करते हैं और राजा की एकराट् शक्ति के हिमायती हैं, किन्तु राजा को वह प्रजा के साथ एकतान हो जाते देखना चाहते हैं। उनकी निगाह में तो राजा का अस्तित्व ही वस्तुतः प्रजा के सुख और हित के लिए है।

कौटिल्य हमारे राजनीतिक आदर्शों के सबसे महान् विधायक हैं। व्यास आदि ने जहाँ प्रधानतः धर्म और मोक्ष की रूपरेखा अंकित की, वहाँ हमारे जीवन के तीसरे महत्वपूर्ण अंग 'अर्थ' का विधान महात्मा कौटिल्य ही के हाथों हुआ। इस दृष्टि से मनु, वाल्मीकि, व्यास आदि की भाँति विष्णुगुप्त कौटिल्य भी हमारी संस्कृति के एक प्रधान प्राणप्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं।

अशोक
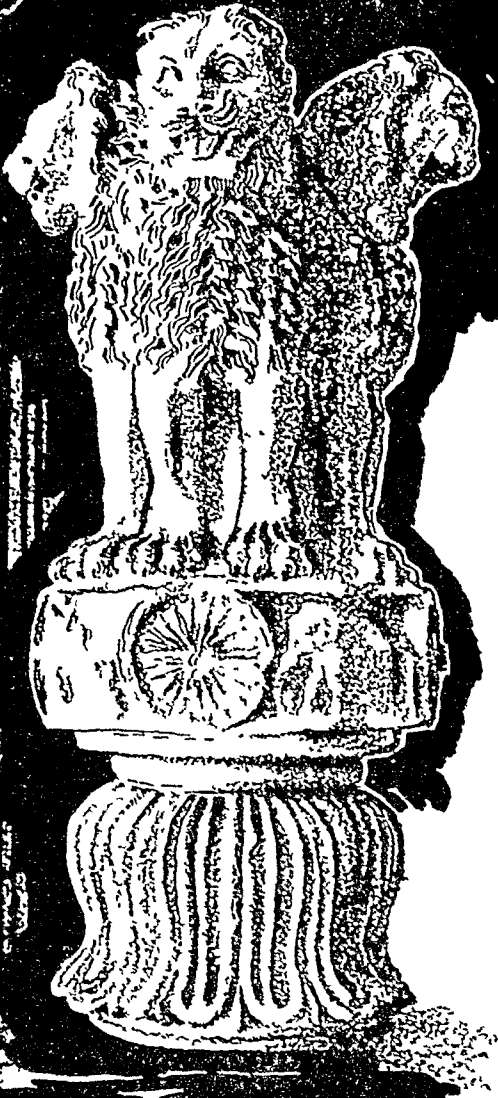
'कलिङ्ग-विजय में जितने मनुष्य मारे गए, मरे, या बन्दी हुए, उनका शतसहस्रांश भी अब यदि हत या आहत होगा तो देवताओं के प्रिय को घोर दुःख होगा। देवताओं के प्रिय के मत में तो जो अपकार करता है वह भी क्षमा का पात्र है......देवताओं का प्रिय सभी जीवों की अक्षति, संयम, समचर्य्या और प्रसन्नता का इच्छुक है'*—ये अमर शब्द आज से बाईस सौ वर्ष पूर्व युद्ध की विभीषिका के पट पर मानव द्वारा मानव के रक्त-निपात का चित्र खिंचते देखकर महान् अनुकंपा और उद्वेग के कारण उपजे हुए एक ऐसे राजर्षि के हृदयोद्गार हैं, जिसकी समता का दूसरा कोई नरेश संसार में न हुआ। वह अपने ढंग का एक ही शासक था। तलवार को अलग रखकर केवल प्रेम और धर्म द्वारा हृदय पर विजय पाना ही उसे अभीष्ट था। इसी का यह सुपरिणाम है कि पृथ्वी के मूक जड़ पाषाण तक आज उसकी गौरव-गाथा हमें सुना रहे हैं! ऊपर जो शब्द उद्धृत किए गए हैं वे भी पाषाण के पृष्ठों पर अंकित उसकी ही विशद कीर्त्तिकथा के कुछ स्वर हैं। बड़ी ही विलक्षण थी उसकी सूझ और चिरकाल तक अपने आदर्शों की ओर मनुष्य को प्रेरित करते रहने की उसकी पिपासा! अपने साम्राज्य के इस छोर से उस छोर तक वनों, गाँवों, नगरों, राजमार्गों, तीर्थस्थलों, और राजधानियों में जगह-जगह स्तंभ और स्तूप, शिलालेख और प्रशस्तियाँ निर्मित कर उसने उन पर सदा के लिए अपने हृदय के स्वर अंकित कर दिए और इस तरह मानों उन्हें जड़ से चेतन बना दिया। समय आने पर वह स्वयं तो काल के प्रवाह में बहकर चला गया, किन्तु उसके स्मारक वे पाषाण काल की छाती पर खड़े होकर मानों आज भी अपने सामने से गुजरने-वाले हर पथिक को पुकार-पुकार कर कहते हैं—'जो विजय धर्म द्वारा की जाती है उसे ही देवताओं का प्रिय यथार्थ विजय मानता है..... और प्रीति में सनी हुई ऐसी विजय उसे सब जगह प्राप्त हुई है।'†

आज से बाईस शताब्दी पूर्व यही महामनस्वी इस देश की नौका का कर्णधार था। उसका नाम अशोक था—वह हमारे चिरपरिचित कौटिल्य के शिष्य चंद्रगुप्त मौर्य्य का पोता तथा बिन्दुसार अमित्रघात का पुत्र था। चंद्रगुप्त, कौटिल्य

* प्रधान शिलाभिलेख नं० १३। † वही।

और बिन्दुसार से उसे कम्बोज से कर्णाटक तक विस्तृत जो एकछत्र साम्राज्य या 'विजित' प्राप्त हुआ उसी में एक अंश और जोड़ने के लिए अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष वह पड़ौसी कलिङ्ग (आधुनिक उड़ीसा) राष्ट्र पर टूट पड़ा। इस युद्ध में एक लाख योद्धा तो केवल रणभूमि ही में धराशायी हुए, उसके उपरान्त पुनः उतने ही और मरे या मारे गए तथा डेढ़ लाख से भी अधिक बंदी बनाए गए! इस रक्त-ताण्डव ने अशोक का हृदय कँपा दिया। उसने अपने आपको धिक्कारा और उसी दिन से निश्चय कर लिया कि अब इस प्रकार के विजय-पथ पर वह आरूढ़ न होगा। यही नहीं, अपने वंशधरों के लिए भी उसने यह आदेश अंकित कर दिया कि वे धर्म के द्वारा की जानेवाली विजय को ही वास्तविक विजय समझें और शासन में समता, लघुदण्डता और क्षान्ति से काम लें।

कलिङ्ग-युद्ध के शीघ्र ही बाद अशोक बौद्ध श्रावक बन गया। उसने विहिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया और राजप्रासाद की रसोई के लिए मारे जानेवाले सैकड़ों-हज़ारों प्राणियों का नित्यप्रति का वध रुकवा दिया। कालान्तर में तो उसने सारे राज्य में विशिष्ट पक्षियों और पशुओं को मारने की मुनादी कर दी। इस प्रकार न केवल अपने ही निजी जीवन और शासन-नीति में उसने गहन परिवर्त्तन और सुधार करने की ठानी, बल्कि साथ ही साथ प्रजा के जीवन को भी ऊँचा उठाने की ओर वह प्रवृत्त हुआ। साम्राज्य के कोने-कोने में फैले हुए अपने महामात्यों को उसने आदेश दिया—'आप लोग हज़ारों नर-नारियों पर इसलिए रक्खे गए हैं ताकि देवताओं का प्रिय सत्पुरुषों का स्नेहभाजन बने।'* अपने प्रतिवेदकों के नाम उसने आज्ञा जारी की—"चाहे मैं भोजन करता होऊँ या अंतःपुर अथवा शयनालय में रहूँ, प्रतिवेदक प्रजा का कार्य मुझे सूचित करें। मैं सब कहीं प्रजा का कार्य करूँगा।" धर्म के प्रचार के लिए राजकीय महामात्यों की तरह उसने धर्म-महामात्य नियुक्त कर दिए, जो साम्राज्य से बाहर के अंतों या पड़ौसी विदेशी राष्ट्रों तक में भेजे जाते। अभिषेक के अठारहवें वर्ष में उसने बौद्ध संघ की तीसरी संगीति बुलाई। पाटलिपुत्र के समीप अशोकाराम नामक स्थान में अशोक के धर्मगुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स या उपगुप्त के नेतृत्व में नौ महीने तक उसका अधिवेशन हुआ। इस संगीति में निर्धारित धर्म-विजय की नीति के अनुसार तिस्स के आदेश से अशोक ने देश-देश में थेरों या बौद्ध भिक्षु विद्वानों को दौड़ा दिया, जिससे सुदूर खोतन, सिंहल, स्वर्णभूमि, और मिस्र तक बुद्ध का सन्देश गूँज उठा। न केवल साम्राज्य की ही सीमाओं में प्रत्युत् उससे बाहर विदेशी 'अंतों' के भी राजमार्गों पर राहगीरों और पशुओं के आराम के लिए छाया और फलों के वृक्ष रोप दिए गए। आठ-आठ कोस पर कुएँ खुद गए। धर्मशालाएँ या सराएँ बन गईं, प्याऊ बिठा दिए गए और मनुष्यों की चिकित्सा के अलावा पशुओं की भी चिकित्सा के लिए चिकित्सालय और औषधालय खुल गए। इस महान् धर्म-विजय की ही स्मृति को मानों चिरस्थायी बनाने के लिए अशोक ने अपने साम्राज्य के कोने-कोने में ऊपर लिखे अनुसार स्तूप, स्तंभ और अभिलेख स्थापित करा दिए, जिन पर उसने अपनी 'धम्मलिपियाँ' खुदवा दीं। इनमें अब तक पाए गए प्रधान शिलाभिलेख १४ हैं और स्तंभाभिलेख ७। यों तो कुल मिलाकर छोटे-बड़े ३३ अभिलेख मिलते हैं। कहते हैं, इनके अतिरिक्त अशोक ने ८४ हज़ार स्तूप भी बनवाए थे! उसके स्तूप और स्तंभ कला के अद्भुत नमूने हैं। सब स्तंभ चुनार के पत्थर के हैं और उनके भारी डीलडौल को देखकर अचरज होता है कि क्योंकर वे इतनी दूर-दूर पहुँचाए जा सके होंगे!

अशोक अपने को 'देवताओं का प्रिय' कहता, किंतु देवताओं से भी अधिक वह मनुष्यों का प्रिय बन गया। बुद्ध के बाद उनके सिद्धान्तों का पालन और प्रचार करनेवाला अशोक से बड़ा श्रावक फिर संसार में पैदा न हुआ। किन्तु एक आदर्श बौद्ध से भी अधिक वह एक आदर्श शासक था। वह रामचन्द्र, युधिष्ठिर और जनक की ही दिव्य परम्परा का राजन्य था। हमारी संस्कृति का मंत्र भारत से बाहर ले जाने का श्रेय जितना अशोक को प्राप्त है उतना और किसी को भी नहीं। कला के क्षेत्र में तो अशोक की प्रेरणा से जो अद्वितीय पुष्प खिले वे न केवल हमारी ही प्रत्युत् संसार की अनमोल थाती हैं। पिछले पृष्ठ पर अंकित चित्र में इसी राजर्षि के एक स्मारक-स्तंभ का शिरोभाग प्रदर्शित है।

* कलिंग शिलाभिलेख नं० १। प्रधान शिलाभिलेख नं० ६।

रसायनवेत्ता और प्राणाचार्य

भारत की बहुमुखी साधना केवल धर्म, दर्शन या काव्य-कला के ही क्षेत्र तक सीमित नहीं रही है। हमारे पूर्वजो ने जहाँ वेदो, उपनिषदो, आदि में निहित 'पराविद्या' का निर्माण किया, वहाँ गणित, ज्योतिष, रसायन आदि उन लौकिक या 'अपरा विद्या' की शाखाओं का भी विधिवत् प्रणयन और विकास किया, जिन्हें आज हम 'विज्ञान' या 'सायन्स' के नाम से पुकारते हैं। अपनी संस्कृति के सबसे प्राचीन आलेख ऋग्वेद में ही इस बात के अनेक प्रमाण हमें मिलते हैं कि उस पुरातन काल ही में इस देश के लोग ताँबा, सोना आदि धातुओ का उपयोग करने लगे थे, वे विविध वनस्पतियो के गुणो और लक्षणो से परिचित थे और औषधि के रूप में उनका प्रयोग भी करने लग गए थे। उनमें यथा-विधि वैद्य और चिकित्सक होते, यहाँ तक कि अपने देवताओं में भी अश्विनीकुमारो के रूप में उन्होने चिकित्सको की कल्पना कर रक्खी थी। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के सूक्त ११६में युद्ध में राजमहिषी विशपला के एक पाँव के कट जाने पर वैद्य अश्विनीकुमारों द्वारा पुनः उसके बदले एक धातुनिर्मित कृत्रिम पाँव के लगाये जाने का मनोरंजक उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि न केवल ओषधि-विज्ञान प्रत्युत् शल्य-क्रिया की भी बारीकियो से लोगो को काफ़ी परिचय तब तक हो चुका था। ओषधि या वनस्पतियों की स्तुति मे तो ऋग्वेद में अलग से एक सूक्त ही है। जिस सोमरस की प्रशंसा के गीतो की वेदों में भर-मार है, वह भी एक वन्य लता का ही मादक और गुणकारी रस था। अथर्ववेद में और भी स्पष्ट शब्दों में विविध जड़ी-बूटियों के रोग-निवारक गुणों का उल्लेख मिलता है और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के युग मे तो विविध शास्त्रों का यथाविधि अध्ययन होने के प्रमाण मिलते हैं। संभवत इसी युग में अथवा इससे कुछ ही समय बाद पहलेपहल 'आयुर्वेद' या चिकित्सा-विज्ञान की भी शास्त्रीय रूपरेखा निखरी होगी, जिसके आरंभिक निर्माताओं में भरद्वाज, पुनर्वसु, अग्निवेश, भेल, जातुकर्ण, पराशर, हारित और क्षारपाणि नामक प्राणाचार्यों के नाम हमें मिलते हैं। कहते हैं, अग्निवेश इनमें सबसे अधिक प्रतिभाशाली थे। उन्हीं की प्राचीन संहिता का प्रति-संस्करण कर महर्षि चरक ने अपनी वह सुप्रसिद्ध 'चरक-संहिता' बनाई, जो हमारे आयुर्वेद-संबंधी साहित्य का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है। चरक के काल-निर्णय के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। फ्रेंच पुरातत्ववेत्ता सिल्व्याँ लेवी ने चीनी त्रिपिटक की एक प्राचीन प्रति में से चरक नामक एक वैद्य का नाम ढूँढ निकाला है, जो कुषाण सम्राट् कनिष्क का आध्यात्मिक गुरु था। इसी के आधार पर आधुनिक इतिहासकार चरक की तिथि प्रायः द्वितीय शताब्दी ईस्वी मानने लगे हैं। किन्तु सर प्रफुल्लचन्द्र राय आदि भारतीय विद्वानों के अनुसार चरक इससे कहीं प्राचीन काल में हुए थे—वह कम से कम बुद्ध से पहले के अवश्य थे। श्री० राय के अनुसार चरक और अथर्ववेद के युग में लगभग एक हज़ार वर्ष का व्यवधान माना जा सकता है। स्मृतियों की तरह चरक की कृति का भी बाद में निरंतर संस्कार होता रहा—उसके अंतिम ४१ अध्याय तो निश्चय ही दृढ़बल द्वारा जोड़े गए। टीकाकार चक्रपाणि के मत में चरक और महा-भाष्यकार तथा योगसूत्रकार पतंजलि एक ही व्यक्ति थे, किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

चरक का ग्रंथ भारतीय वैद्यकशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ है। उसमें वात, पित्त, और कफ़, इन त्रिदोषों से उत्पन्न विविध रोगों के निदान और चिकित्सा का विशद विवेचन है, जो भारतीय चिकित्सा-प्रणाली की नींव कहा जा सकता है। सर प्रफुल्लचंद्र राय के शब्दों में. चरक की कृति को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह किसी सुदूर अतीत में हिमालय के किसी एकान्त रमणीक स्थान में एक अंतर्राष्ट्रीय महासम्मेलन में एकत्रित देश-देश के प्राणाचार्यों और उद्-भट चिकित्सा-वैज्ञानिकों के गहन वाद-विवाद और विचार-विमर्श का आलेख है। इसकी झलक

हमें चरक-संहिता के आरंभ ही में उस प्रकरण में मिल जाती है, जहाँ चैत्ररथ नामक वन में आत्रेय पुनर्वसु, भद्रकाप्यस शाकुन्तेय, मौदूगल्य, कौशिक, भरद्वाज, वारिओविद, निमि, वादिश धामार्गव, तथा वाल्हीक (आधुनिक वल्ख) देश के सर्वश्रेष्ठ प्राणाचार्य कांखायन आदि मनीषियों को एकत्रित होकर अपने-अपने विचार प्रकट करते हम देखते हैं। क्या ही अद्भुत युग रहा होगा वह, जब इस प्रकार के अनवरत विचार-मंथन के फलस्वरूप क्रमशः हज़ारों प्रकार की वनस्पतियों और जड़ी-बूटियों के लक्षण, गुण और प्रयोग तथा मानव देह के विविध अंगों और रोगों के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा चिकित्सा-शास्त्र के उन आदि सिद्धान्तों का निर्माण हुआ होगा, जिनका प्रयोग हमारे वैद्य और कविराज आज भी करते हैं!

चरक के बाद प्राचीन प्राणाचार्यों में दूसरा महत्व का नाम सुश्रुत का है। चरक-संहिता में जहाँ कायतंत्र या ओषधिविज्ञान की प्रधानता है, वहाँ सुश्रुत-संहिता में मुख्य रूप से शल्यतंत्र या चीरफाड़-संबंधी विद्या का विवेचन है। सुश्रुत-संहिता चरक-संहिता से कहीं अधिक सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और सुसंगत है। निश्चय ही वह चरक के बाद की कृति है। महाभारत के अनुसार सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। कात्यायन की वार्त्तिका में भी सुश्रुत का नाम आया है। अनुश्रुति के अनुसार यह धन्वन्तरि के शिष्य थे। चरक की तरह सुश्रुत की भी तिथि का निर्णय करना कठिन है। उनका जो ग्रंथ हमें मिलता है वह उनकी मूल कृति नहीं, प्रत्युत् नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत किया गया उसी का परिवर्धित संस्करण है। टीकाकार दल्वणाचार्य का कथन है कि इस ग्रंथ का उत्तरतंत्र नामक परिशिष्ट भाग नागार्जुन का ही लिखा हुआ है। यदि यही बात यथार्थ हो तो सुश्रुत नागार्जुन (प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी) से पहले के ही कोई मनीषि थे। सुश्रुत-संहिता इस बात का जीता-जागता प्रमाण है कि ओषधियों के प्रयोग की भाँति चीरफाड़ या जर्राही में भी प्राचीन काल ही में भारतवासी कितनी उन्नति कर चुके थे!

सुश्रुत के बाद तिथिक्रम के अनुसार आयुर्वेद और रसायन विज्ञान के क्षेत्र में तीसरा महान् व्यक्तित्व नागार्जुन का है। इस अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न विज्ञानाचार्य के संबंध में हमने अन्यत्र भी लिखा है। वही तिर्यक्पातन-यंत्र (भभके) और धातुमारण आदि संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण रासायनिक विधियों के आविष्कारक हैं। उनके नाम से कई योग तथा कक्षपुटतंत्र, रसरत्नाकर आदि रसायन संबंधी ग्रंथ भी मिलते हैं। वस्तुतः भारतीय रसायन को जैसा वेग नागार्जुन से मिला वैसा और किसी से नहीं। कहते हैं, उन्होंने जनन-विज्ञान और धातुशास्त्र पर भी ग्रंथ लिखे थे।

इनके बाद आनेवाले प्राणाचार्यों में 'अष्टाङ्ग-हृदय' के रचयिता वाग्भट्ट सबसे महान् हैं, जिन्हें कोई ८वीं शताब्दी का बताता है तो कोई दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व से भी पहले का! वाग्भट्ट की कृति को हम चरक और सुश्रुत का सारांश कह सकते हैं। नागार्जुन और वाग्भट्ट के समय से आयुर्वेद संबंधी ज्ञान का बृहत् विस्तार हुआ। पारा आदि धातुओं की भस्म का प्रयोग बढ़ चला। अनेक नए योगों का आविष्कार हुआ और रसायन संबंधी खोज में दिनोंदिन प्रगति होती गई। यद्यपि रसायन विद्या प्रायः वैद्यक के ही अधीन रही, किन्तु धातु से सोना बनाने के धुनी तांत्रिकों के हाथों में पड़कर अनायास ही इस विद्या ने काफ़ी उन्नति की। तरह-तरह की धातुओं, रंगों, लवणों, क्षारों, आदि के उत्पादन और प्रयोग संबंधी प्राचीन और मध्यकालीन भारत की विशद जानकारी से हमें विपुल वैज्ञानिक प्रगति की सूचना मिलती है। इस संबंध में संसार भारत का कितना ऋणी है यह तो कहना कठिन है, किन्तु यह सच है कि भारतीय आयुर्वेदिक ज्ञान अरब के रास्ते योरप तक पहुँचा था और तिब्बत, चीन आदि देशों पर भी उसका कम प्रभाव न पड़ा था। वाग्भट्ट के बाद भी अनेक आयुर्वेदाचार्य्य इस देश में हुए। उनमें 'माधव-निदान' के रचयिता वृन्द (सातवीं-आठवीं शताब्दी ईस्वी), 'चक्रदत्त' के निर्माता तथा चरक-संहिता के टीकाकार चक्रपाणि (दसवीं शताब्दी ईस्वी), 'शारंगधर संहिता' के लेखक शारंगधर, 'रसगंगाधर' के कर्त्ता गंगाधर, 'भावप्रकाश' के रचयिता भावमिश्र आदि प्रमुख हैं। किंतु विस्तारभय से इन महापुरुषों के संबंध में यहाँ अधिक लिखने में हम असमर्थ हैं।

पतंजलि

अब हम भारतीय इतिहास के उस गौरवशाली रचनात्मक युग में प्रवेश करने जा रहे हैं, जिसे इतिहासकारों ने 'सातवाहन-शुङ्ग-युग' नाम दिया है अथवा जिसे कोई-कोई 'अश्वमेध-पुनरुद्धार-युग' कहकर भी अभिहित करते हैं*। इस युग का उदय मौर्य्य-साम्राज्य के पतन और उसके स्थान में क्रमशः उत्तर-पश्चिम में यवन, दक्षिण में सातवाहन, मध्य में शुङ्ग और पूर्व में चेदि नामक राजवंशों के उत्थान के साथ हुआ। दक्षिणापथपति सातकर्णि, अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धारकर्ता पुष्यमित्र शुङ्ग, कलिङ्ग-चक्रवर्त्ती खारवेल और शाकल का यवनराज मेनन्द्र या मिलिन्द इसी युग की उपज थे। किन्तु इन पराक्रमी विजेताओं से भी अधिक महत्वपूर्ण तो कला और वाङ्मय के क्षेत्र में इस युग के वे अनमोल उपहार हैं, जो न केवल हमारे ही देश की प्रत्युत् सारे संसार की सांस्कृतिक निधि के लिए गर्व और गौरव की वस्तु हैं। इसी युग में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति जैसे विधान-ग्रन्थों की रूपरेखा बँधी, रामायण और महाभारत के अंतिम परिवर्द्धित संस्करण हुए, पतंजलि के 'महाभाष्य' नामक अद्वितीय व्याकरण-ग्रंथ और अमरसिंहकृत 'अमरकोश' की रचना हुई, जैनों और बौद्धों के अनेक धर्म-ग्रंथों का रूप-निर्माण हुआ, भास और अश्वघोष के नाटकों और काव्यों के रूप में संस्कृत के काव्य और नाटक साहित्य की पहलेपहल यथार्थ स्पष्ट रूपरेखा निखरी, और वैद्यक, रसायन, गणित, ज्योतिष, दर्शन आदि के क्षेत्र में भी विविध आधारभूत ग्रंथों की रचना, प्रतिसंस्कार, पुनरावृत्ति, अथवा नए ढंग से योजना की गई। वात्स्यायन का कामसूत्र और भरत का नाट्यशास्त्र भी इसी युग की रचनाएँ थीं। दक्षिण में तामिल वाङ्मय की सर्वश्रेष्ठ कृति तिरुवल्लुवरकृत 'कुरल' का भी लगभग इसी युग में निर्माण हुआ था। कला के क्षेत्र में यह युग पहाड़ों को काटकर बनाई गई उन चैत्य-गुहाओं, जिन्हें 'लेण' या 'सेलघर' नाम दिया गया है, स्तूपों, विहारों, तोरणों, वेदिकाओं, ध्वजों, भित्ति-चित्रों और मूर्त्तियों के निर्माण का युग था, जिनकी गौरव-गरिमा की कहानी आज भी भारहुत और साँची के तोरणों और वेदिकाओं, जोगीमारा, सीताबेंगा, उदयगिरि, नासिक, कार्ले, और अजंता की प्राचीनतम गुहाओं, उनकी दीवारों पर पाये जानेवाले भित्ति-चित्रों, बेसनगर के हेलिउदोर-गरुड़ध्वज जैसे स्मारक-स्तंभों, जैन और बौद्ध मूर्त्तियों, आयागपटों, एवं नालंद, तक्षशिला आदि के भव्य खण्डहरों में बिखरी पड़ी है। भारतीय इतिहास में यह युग बौद्ध और जैन आदर्शों के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया की लहर का युग माना जाता है, जिसकी धुरी प्राचीन वैदिक धर्म और संस्कृति की पुनरावृत्ति के संकल्प पर

* देखो, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार कृत 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (पृ० ७२५-७२६)।

प्रस्थापित थी। किंतु इसका यह अर्थ न था कि बौद्ध या जैन धर्म मिट चले थे। वस्तुतः अजन्ता का कलामण्डप उपासकों के घंटा-निनाद से सबसे अधिक इसी युग में गूँजा था। इस युग के सभी पहलुओं का दिग्दर्शन कराने के लिए यहाँ स्थान नहीं। यहाँ तो उसको आलोकित करनेवाले एक महा-मनस्वी—'महाभाष्य' के रचयिता पतंजलि मुनि—से ही परिचय पाना हमें अभीष्ट है, जो हमारे विचार में उस युग के सबसे महान् प्रतिनिधि विद्वान् थे।

व्यास या नागार्जुन की तरह पतंजलि का नाम भी हमारे इतिहास की एक पहेली है। योगसूत्रकार पतंजलि का उल्लेख तो हम पहले ही कर चुके हैं; दूसरे पतंजलि हमारे महाभाष्यकार हैं, और तीसरे एक 'लौहशास्त्र' के रचयिता पतंजलि का भी नाम मिलता है। चक्रपाणि ने तो पतंजलि और चरक दोनों को एक ही व्यक्ति मान लिया है। किन्तु अब सभी इतिहासकार प्रायः इस बात पर सहमत हैं कि योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतंजलि दोनों अलग-अलग व्यक्ति थे और पहले महापुरुष दूसरे से कई शताब्दी पहले हुए थे। हाँ, महाभाष्यकार पतंजलि ही यदि 'लौहशास्त्र' के भी रचयिता रहे हों तो कोई अचरज नहीं। वैयाकरण पतंजलि के बारे में तो स्वयं महाभाष्य की ही अंतरंग साक्षी के आधार पर अब यह निश्चित रूप से मान लिया गया है कि द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व (१५० ई० पू० के लगभग) यह महापुरुष इस देश में विद्यमान थे। वह पुष्यमित्र शुङ्ग के समकालीन थे और संभवतः उसके प्रधान आचार्य भी थे। मौर्य्य सम्राट् वृहद्रथ को मारकर नवीन राज्यतंत्र स्थापित करने के बाद पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र में जो अश्वमेध-यज्ञ किया था, उसके ऋत्विजों में पतंजलि भी थे। पाणिनि जहाँ पश्चिमी भारत के निवासी थे, वहाँ पतंजलि पूर्वीय भारत के थे। महाभाष्य में 'गोनर्दीय' तथा 'गोणिका-पुत्र' ये दो नाम आए हैं, जो प्रायः पतंजलि ही के उपनाम माने जाते हैं और इसी के आधार पर उन्हें गोनर्द (विदिशा के पास का एक स्थान) का निवासी तथा गोणिका का पुत्र बताया जाता है। किन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है।

वाङ्मय के क्षेत्र में सातवाहन-शुङ्ग-युग ने जो नूतन उपहार दिए, उनमें सबसे महान् पतंजलि-कृत 'महाभाष्य' ही है। उसकी टक्कर का दूसरा भाष्य-ग्रंथ संभवतः शंकरकृत वेदान्तसूत्रों के भाष्य को छोड़कर भारतीय वाङ्मय में नहीं है। यह भाष्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर है, जिसके चार हज़ार सूत्रों में से १७१३ सूत्रों का पतंजलि ने कात्यायन के 'वार्त्तिक' को ध्यान में रखते हुए विवेचन किया है। इनमें से जिन-जिन सूत्रों पर कात्यायन के वार्त्तिक नहीं हैं उन पर अपनी ओर से पतंजलि ने 'इष्टि' (एक प्रकार की टिप्पणियाँ) भी प्रस्तुत कर दी हैं। पतंजलि और पाणिनि के बीच भी अनेक प्रकाण्ड वैयाकरण हुए, जिनमें कात्यायन ने अपने 'वार्त्तिक' में पाणिनि के सूत्रों पर महत्त्वपूर्ण आलोचना की। किन्तु पतंजलि के रूप में तो पाँच या सात शताब्दी बाद मानों पुनः स्वयं महामुनि पाणिनि ही इस देश की भूमि पर उतर आए! पतंजलि से अधिक शब्द, भाषा और व्याकरण के तत्त्व को समझने-समझानेवाला दूसरा वैयाकरण हमारे यहाँ फिर न हुआ। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि ये तीनों भारतीय व्याकरण के 'मुनित्रय' कहकर पुकारे जाते हैं—अर्थात् उन्होंने ही मुख्यतः संस्कृत व्याकरण का रूप-निर्माण किया। किन्तु इन तीनों में भी पतंजलि का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतंजलि के युग तक आते-आते संस्कृत को आधुनिक प्रौढ़ रूप प्राप्त हो गया था। इस प्रकार पतंजलि हमारे प्राचीन और अर्वाचीन दोनों का संस्कार करनेवाले वैयाकरण हैं—वही कालिदास से लेकर शंकर तक के हमारे प्रधान व्याकरण-गुरु हैं।

व्याकरण के क्षेत्र से बाहर भी महाभाष्य कम महत्त्व नहीं रखता। वह 'अष्टाध्यायी' की भाँति अपने युग के इतिहास, भूगोल, धर्म, समाज और साहित्य का अद्वितीय प्रतिबिम्ब है। इसके अलावा वही 'स्फोटवाद' नामक उस दार्शनिक विचारधारा का भी प्रधान ग्रंथ है, जिसके अनुसार स्फोट नामक निरवयव नित्य अनंत अक्षर या शब्दब्रह्म ही जगत् का आदि कारण माना गया है। वाल्मीकि ने जिस प्रकार 'चरित्र' तथा व्यास और कौटिल्य ने क्रमशः 'धर्म' और 'अर्थ' की महत्ता पर ज़ोर दिया, उसी तरह 'शब्द' की महत्ता को हमारे यहाँ पतंजलि ने ही प्रकाशित किया। इस दृष्टि से भी उनको भारत-निर्माताओं में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

नागार्जुन

भारत की रत्नमंजूषा में नागार्जुन एक विविधपटलयुक्त महार्घमणि के समान सुशोभित हैं। व्यास की तरह नागार्जुन की भी प्रतिभा के अनेक पहलू हैं। धर्म के क्षेत्र में वह बौद्धों की माध्यमिक शाखा अथवा 'महायान' पंथ के प्रवर्त्तक हैं, जो आज भी नेपाल, चीन, कोरिया, जापान आदि में मान्य और प्रचलित है। दर्शन के क्षेत्र में वह बौद्ध दर्शन के सबसे महान् रूप-निर्माता और 'शून्यतावाद' नामक उसकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचारधारा के आचार्य्य हैं। विज्ञान के क्षेत्र में उन्हें हम आयुर्वेद के एक महान् प्राणाचार्य, धातुवेत्ता और रासायनिक, सुश्रुत-संहिता के संपादक, अनेक योगों, रसायनों, रासायनिक विधियों एवं यंत्रों के आविष्कर्त्ता, तथा लोहशास्त्र, आदिशास्त्र एवं रस-रत्नाकर आदि धातु-विज्ञान, जनन-विज्ञान और तंत्र संबंधी महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के निर्माता के रूप में देखते हैं। तंत्र के क्षेत्र में वही एक महान् सिद्ध के रूप में हमारे सामने आते हैं। बौद्धों के तो भगवान् गौतम बुद्ध के बाद वही सबसे महान् महापुरुष हुए। न केवल भारत प्रत्युत् तिब्बत, चीन आदि देशों की भी विचारधारा और संस्कृति का रूप-निर्माण करने में उनका गहरा हाथ रहा। आज भी महायान-पंथियों द्वारा एक 'बोधिसत्त्व' के रूप में नागार्जुन की वंदना की जाती है। उनका इस

प्रकार एक अलौकिक दिव्य पुरुष में परिणत हो जाना ही सूचित करता है कि लोगों के हृदय में उनके लिए क्या स्थान रहा है।

यह महापुरुष कब और कहाँ हुए, इस संबंध में आधुनिक इतिहासकारों ने तरह-तरह की अटकलें लगाई, किन्तु बहुमत यहीं आकर ठहरा कि वह कुषाण सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे और मूलतः दक्षिण कोसल या विदर्भ देश के रहनेवाले थे। ह्वान च्वाङ् ने देव, अश्वघोष और कुमारलब्ध के साथ 'विश्व को प्रकाशित करनेवाले चार दिव्य सूर्यों' में नागार्जुन की भी गणना की है। चौथी-पाँचवी शताब्दी ईस्वी के समय का चीनी भाषा में अनूदित नागार्जुन का एक जीवनचरित्र भी पुरातत्ववेत्ताओं को मिला है। राज-तरंगिणी में नागार्जुन बोधिसत्व का कनिष्क के युग में होने का उल्लेख है। तिब्बती और चीनी भाषाओं में नागार्जुन के एक संदेश का आलेख सुरक्षित है, जिससे ज्ञात होता है कि नागार्जुन की सातवाहन (शालिवाहन) नामक किसी राजा से मैत्री थी। नागार्जुन की जीवनी के संबंध में सत्रहवीं शताब्दी में तिब्बत के लामा तारानाथ ने एक ग्रंथ में अनेक गाथाओं का संकलन किया था। यद्यपि ये कथाएँ धर्म-भावना से अतिरंजित हैं, फिर भी उनमें इस महापुरुष के पार्थिव जीवन के कुछ प्रामाणिक सूत्र अवश्य मिलते हैं। कहते हैं, महाबोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के आदेश से नागार्जुन नालन्द के विहार में प्रविष्ट हुए थे। एक बार घोर अकाल पड़ने पर किसी सुदूर द्वीप में जाकर उन्होंने एक सिद्ध से धातु से सुवर्ण बनाने की विद्या सीखी थी, और उसके ही बल पर लौटकर अकाल से सबकी रक्षा की थी। इन्हीं कथाओं में यह भी उल्लिखित है कि नागार्जुन ने अनेक चैत्य और विहार बनवाए थे, तथा वैद्यक, रसायन आदि विषयों पर कई ग्रंथ भी लिखे थे।

नागार्जुन का ही समकालीन अश्वघोष नामक कवि और दार्शनिक था, जो कनिष्क के समय में बौद्ध संघ का प्रमुख था। उसके बाद स्वयं नागार्जुन ही बौद्ध संघ के अधिनायक हुए। कनिष्क के युग तक आते-आते बौद्ध धर्म में उस विचारधारा की प्रधानता हो गई थी, जो आगे चलकर 'महायान' के नाम से प्रसिद्ध हुई। वस्तुतः बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद से ही अनेक वादों या सम्प्रदायों का आविर्भाव होना शुरू हो गया था, जिनमें से एक सर्वास्तिवाद भी था। इसकी एक शाखा का गांधार में प्राबल्य था। कनिष्क के समय में जो चौथी संगीति बुलाई गई, उसमें त्रिपिटक का 'महाविभाषा' नामक एक महाभाष्य तैयार कराया गया था, जिसकी एक प्रति ताम्रपत्रों पर खुदवाकर एक स्तूप के नीचे गाड़ दी गई थी। इसी ग्रंथ के नाम पर सर्वास्तिवादियों की वह शाखा 'वैभाषिक' कहलाने लगी। 'महायान' इस वैभाषिक सम्प्रदाय से ही विकसित हुआ। इसके आदि प्रवर्त्तक नागार्जुन ही माने जाते हैं। नागार्जुन ने बुद्धत्व-प्राप्ति के तीन प्रमुख मार्ग—अर्हत्-यान, पच्चेक-बुद्ध-यान, और सम्मास-बुद्ध या सम्यक्-संम्बुद्ध-यान—में से अंतिम या तीसरे यान को ही प्रधानता दी, अन्य को 'हीन' बताया। तभी से हीनयान और महायान के रूप में बौद्ध उपासकों के दो महत् संप्रदाय बन गए। किन्तु इस संप्रदाय-स्थापना से भी अधिक महत्त्वपूर्ण तो नागार्जुन द्वारा बौद्धधर्म में प्रस्तुत किया गया वह दार्शनिक वाद था जिसका सूत्र है—'सर्वं शून्यम्।' भारतीय दर्शन के क्षेत्र में यह विचारधारा 'शून्यतावाद' के नाम से पहचानी जाती है। नागार्जुन के दार्शनिक विचार प्रज्ञापारमिता-सूत्र, माध्यमिक-सूत्र, और द्वादशनिकाय नामक उनकी संस्कृत भाषा में लिखी रचनाओं में संकलित हैं। कुछ लोग नागार्जुन को ही तांत्रिक बौद्ध धर्म का भी प्रवर्तक मानते हैं।

नागार्जुन का स्थान भारतीय दर्शन के क्षेत्र में याज्ञवल्क्य और शंकर के ही समकक्ष माना जा सकता है। विज्ञान के क्षेत्र में तो वही निर्विवाद रूप से हमारे सबसे बड़े प्राचीन रसायनाचार्य हैं। चक्रपाणि ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में उन्हें नागार्जुन-प्रणीत दो योग या नुस्खे पाषाण-शिलाओं पर अभिलिखित मिले थे। इस प्रकार के नुस्खे वह प्रायः जगह-जगह खुदवा देते थे। नागार्जुन के लोहशास्त्र और आदिशास्त्र का तो ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है, उन्हें ही पारे के योग की विधि और तिर्यक्पातन-यंत्र आदि का भी आविष्कारक माना जाता है। वस्तुतः नागार्जुन को संसार भर के प्राचीन वैज्ञानिकों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भारत को गर्व है कि वह उसके ही एक रत्न है।

ज्योतिष और गणित

ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में हमारे देश की साधना का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितनी पुरानी हमारी संस्कृति है। वैदिक आर्यों का यज्ञीय कर्म-काण्ड विशिष्ट समय में निर्दिष्ट मुहूर्त्तों के अनुसार ही होता था, अतएव अपने धर्मानुष्ठानों के लिए काल-निर्णय करने के प्रयत्न में अति प्राचीन काल ही में ज्योतिषिक पर्यवेक्षण की ओर उनका ध्यान गया था। ऋग्वेद ही में इस बात के प्रचुर संकेत मिलते हैं कि छः हज़ार वर्ष पूर्व के उस पुरातन युग ही में भारतीय आर्य्य ज्योतिष के क्षेत्र में कितने आगे बढ़ चुके थे। वे सूर्य को दिन-रात, ऋतु-संवत्सर आदि का कारण मानते, उसके ही तेज से चन्द्रमा को प्रकाशित बतलाते, उसके ग्रहण और अयन-चलन का विधिवत् निरीक्षण करते और वासन्त एवं शारद विषुवद्दिन का निर्णय कर आगे आनेवाली तिथियों का बहुत-कुछ ठीक-ठीक काल निश्चित कर लेते थे। लुड्विग नामक जर्मन विद्वान् के मत में तो उन्हें पृथ्वी की धुरी के झुकाव का भी ज्ञान था, और इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि पृथ्वी को वे गोलाकार और आकाश में निरवलंब स्थित मानते थे।
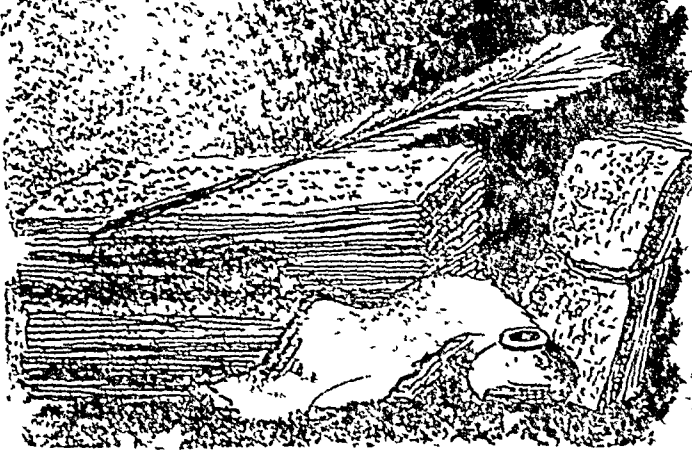
यजुर्वेद, ब्राह्मणों और उपनिषदों के युग में आने पर ज्योतिष और गणित को हम क्रमशः 'नक्षत्र-विद्या', 'राशि-विद्या' और 'शुल्व' (रेखागणित) के रूप में विधिवत् शास्त्रों या विद्याओं में परिणत होते देखते हैं और सूत्रकाल तक पहुँचते-पहुँचते तो ज्योतिष वेदों का ही एक पवित्र अंग या 'वेदाङ्ग' बन जाता है। शुक्ल यजुर्वेद में हमें 'नक्षत्र-दर्श' (नक्षत्रों का पर्यवेक्षण करनेवाला), 'गणक' (गणना करनेवाला), आदि शब्द भी मिलते हैं, यद्यपि उस युग के महान् ज्योतिषियों या गणिताचार्यों के व्यक्तिगत विवरण उपलब्ध नहीं हैं। प्राचीनतम नाम जो मिलता है, वह सरस्वती-तटवासी महर्षि वृद्ध गर्ग का है, जो महाभारत के अनुसार काल-ज्ञान एवं नक्षत्र-विद्या के महान् आचार्य और सम्राट् पृथु के राज-ज्योतिषी थे। हमारे फलित ज्योतिष का एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ 'गर्ग-संहिता', जो बाद के संस्करणों में अब भी उपलब्ध है, संभवतः इन्हीं महर्षि की कृति हो। इनके बाद दूसरे महान् ज्योतिषाचार्य्य लगध हुए, जिनके सिद्धान्त 'याजुष ज्योतिष वेदाङ्ग' में संकलित हैं। यह काश्मीर के निवासी थे। दीक्षित और तिलक ने वेदाङ्ग ज्योतिष को १४०० ईस्वी पूर्व की रचना माना है। उसमें राशियों का उल्लेख नहीं मिलता, केवल सत्ताइस नक्षत्रों के अयन-चलन एवं सौर-चान्द्र पंचवर्षीय चक्र का ही बोलबाला है, जिनकी सूचना हमें तैत्तिरीय, काठक और मैत्रायणी संहिताओं में भी मिलती है। यही विचारधारा बाद के 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक जैन ज्योतिष-ग्रंथ और 'पैतामह सिद्धान्त' में भी दिखाई देती है, किन्तु ईस्वी सन् के आरंभ-काल के लगभग हम भारतीय ज्योतिष को एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर होते देखते हैं। इस क्रान्तिकारी पट-परिवर्त्तन का प्रतीक 'सूर्य-सिद्धान्त' है। वराहमिहिर की 'पंचसिद्धान्तिका' में सौर के

अतिरिक्त पौलिश, रोमक, वाशिष्ठ और पैतामह नामक सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। इनमें पौलिश और रोमक सिद्धान्त स्पष्टतया अभारतीय थे—उन पर ग्रीक विचारों की छाप थी। सौर सिद्धान्त का प्रणेता कौन था, हमें नहीं मालूम। अलबेरुनी ने उसे लाट की कृति बताया है। किन्तु लाट आर्यभट के बाद हुए थे और यह सिद्धान्त उनसे कहीं पहले का था। कहते हैं, इस युग में विदेशी और भारतीय ज्योतिषिक विचारों में प्रचुर आदान-प्रदान हुआ। राशिचक्र और फलित ज्योतिष संबंधी अनेक बातें हमें पश्चिम ही से प्राप्त हुईं। किन्तु साथ ही हमने भी संसार को इस क्षेत्र में अनेक नए पाठ पढ़ाए। उदाहरण के लिए, गणित में दशमलव की प्रणाली संसार को भारत ही से मिली!

भारतीय ज्योतिष का स्वर्णयुग पाँचवीं से सातवीं शताब्दी ईस्वी तक का वह समय था, जिसमें हमारे तीन सबसे महान् ज्योतिषी आर्यभट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त पैदा हुए। आर्यभट कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के निवासी थे। उनका जन्म ४७६ ईस्वी में हुआ था। आर्यभट की टक्कर के प्रतिभाशाली ज्योतिषी और गणितज्ञ संसार में गिने-चुने ही हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान् उन्हें प्रायः 'भारत का न्यूटन' कहते हैं। कापर्निकस से कई शताब्दी पूर्व ही भारत के इस महान् ज्योतिषी ने स्पष्ट कह दिया था कि पृथ्वी गोल है, वह अपनी धुरी पर चक्कर लगाती है और सूर्य या चंद्र का ग्रहण राहु द्वारा ग्रास होने के कारण नहीं प्रत्युत् सूर्य या चंद्रमा की आड़ में पृथ्वी अथवा चाँद की छाया आ जाने से ही होता है। आर्यभट की सबसे बड़ी देन ग्रहों की गति संबंधी उनकी नूतन गणना-प्रणाली थी। उनकी कृति 'आर्यभटीय' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके 'गीतिका', 'गणित', 'कालक्रिया' और 'गोल' नामक चार खण्ड हैं।

आर्यभट के बाद छठी शताब्दी में वराहमिहिर हुए, जो भारत की ज्योतिषिक राजधानी उज्जयिनी के निवासी थे। वह वस्तुतः एक फलित ज्योतिषी थे। उनकी इस विषय की 'बृहत्संहिता', 'बृहज्जातक' आदि रचनाएँ प्रख्यात हैं। किन्तु वराहमिहिर का सबसे महत्त्व का कार्य 'पंचसिद्धान्तिका' नामक उस अमूल्य कृति का निर्माण था, जिसमें अपने से पहले के पाँच प्राचीन सिद्धान्तों का परिचय देकर उन्होंने भारतीय ज्योतिष के इतिहास की जानकारी का एक महत्त्वपूर्ण साधन प्रस्तुत कर दिया। उनकी मृत्यु ५८७ ईस्वी में हुई। इसके ठीक ग्यारह वर्ष बाद पंजाब के भिल्लमल नामक गाँव में उस युग के तीसरे महान् ज्योतिर्विद् ब्रह्मगुप्त का जन्म हुआ। ब्रह्मगुप्त की सबसे विख्यात कृतियाँ 'ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक' नामक करण-ग्रंथ हैं। उन्होंने आर्यभट की कुछ अंशों में अनुचित कटु आलोचना भी की। किन्तु उनकी गणना-पद्धति बाद के सभी भारतीय ज्योतिषियों द्वारा शिरोधार्य की गई। ब्रह्मगुप्त के बाद आर्यभट द्वितीय, लल्ल, भोज आदि अनेक ज्योतिषी हुए, किन्तु उनमें केवल एक ही ऐसे थे, जिन्हें हम महान् ज्योतिर्विदों या गणितज्ञों में गिन सकते हैं। यह महापुरुष बारहवीं शताब्दी के दक्षिण भारत के अद्वितीय गणिताचार्य भास्कर थे। भास्कर की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति 'सिद्धान्त-शिरोमणि' है, जिसके 'ग्रहगणित' और 'गोल' नामक खण्डों में परिष्कृत ज्योतिषिक सिद्धान्तों का विवेचन है। उनका 'बीजगणित' अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ भारतीय ग्रंथ है। कहते हैं, संसार को 'चलन-कलन' का सिद्धान्त भास्कराचार्य ही से मिला। उनकी पुत्री लीलावती भी विदुषी थी, जिसके नाम पर 'लीलावती' गणित प्रसिद्ध है।

इसके बाद आयुर्वेद या रसायन की भाँति ज्योतिष के क्षेत्र में भी हमारी साधना की स्रोतस्विनी की प्रगति का मार्ग मानों अवरुद्ध-सा हो गया। केवल एक उल्लेखनीय नाम सत्रहवीं शताब्दी के ज्योतिष-प्रेमी जयपुरनरेश जयसिंह का है, जिन्होंने उज्जैन, जयपुर, काशी और दिल्ली में अनेक प्राचीन यंत्रों से सुसज्जित वेधशालाओं की स्थापना की थी। ये वेधशालाएँ, भग्न रूप में, आज भी खड़ी हैं और उस बीते गौरव की हमें याद दिला रही हैं, जो वेदों से जयसिंह के युग तक हमारे ज्योतिषिक और गणित-सम्बन्धी इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित है। हाँ, नवभारत के पुनरुत्थान के साथ रामानुजन् जैसे गणितज्ञों के आविर्भाव द्वारा पुनः उस गौरवगाथा में एक नवीन उज्ज्वल अध्याय का आरंभ हुआ है। इसका विवरण इसी ग्रंथ में आप अन्यत्र पढ़ सकते हैं।
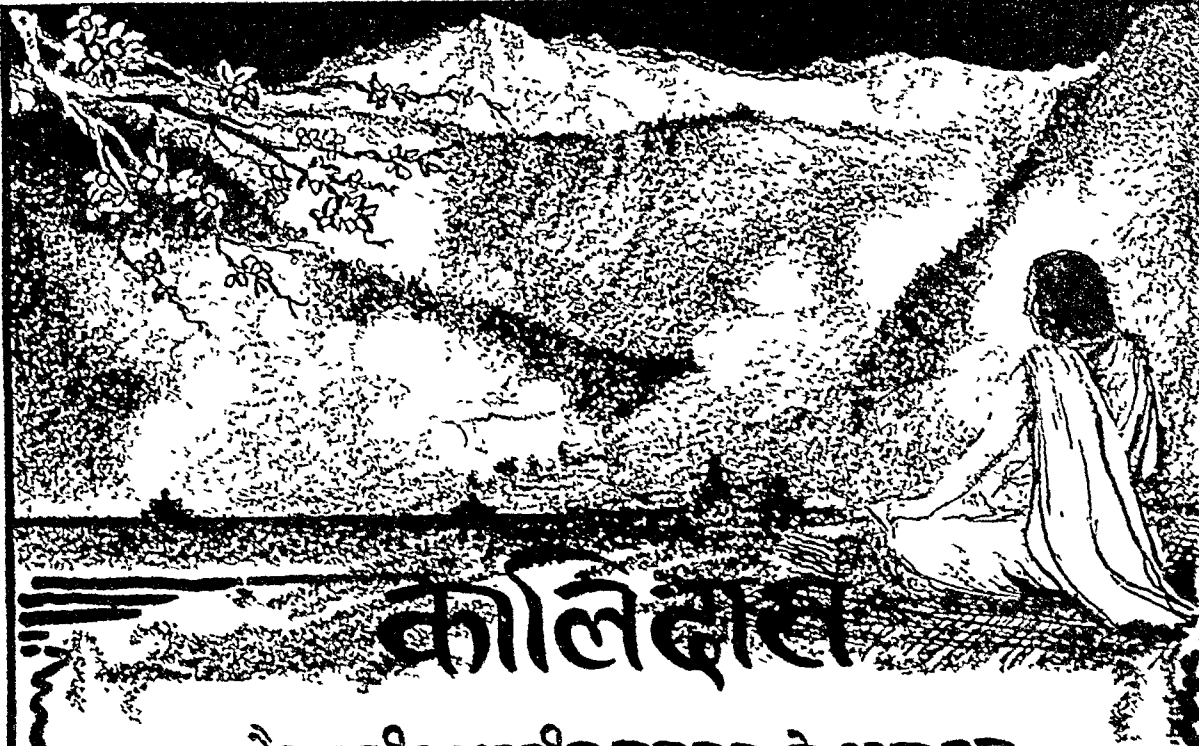
कालिदास

और प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अन्य रत्न

वह कौन था, कब हुआ, और इस देश के किस भूभाग में जन्म लेकर अपनी दिव्य साधना द्वारा उसने हमारे साहित्य के स्वर्ण-कलश का निर्माण किया, इतिहासकारों के लिए यह एक जटिल पहेली है। जनश्रुति उसे उज्जयिनी के लोकविश्रुत सम्राट् विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक बतलाती और इसी आधार पर भारतीय परम्परा में उसका जन्म-प्रदेश मालवा और समय विक्रमी संवत् की प्रथम शताब्दी अर्थात् ५७ ईस्वी पूर्व के लगभग का युग माना जाता रहा है। किन्तु पुरातत्त्वविद् उक्त युग में उसके होने में आपत्ति करते हैं—वे उसे प्रायः चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के विक्रमादित्य-नामधारी गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१५ ई०) का ही समकालीन मानते हैं। वस्तुतः उसका समय और भी बाद को खींच ले आया जाता यदि मंदसोर और ऐहोल नामक स्थानों से प्राप्त दो ऐतिहासिक प्रशस्तियों ने उसकी तिथि-संबंधी एक निम्नतर सीमा न बाँध दी होती! मंदसोर की प्रशस्ति में, जिसकी रचना ४७२-४७४ ई० में वत्सभट्टि नामक कवि ने की थी, 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' के कई पद्यों की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ी है, और ऐहोल की प्रशस्ति (६३४-६३५ ई०) में तो 'विजयताम् रविकीर्त्तिः कविताश्रित कालिदास-भारविकीर्त्तिः' इन शब्दों में उसके नाम और महिमा का निर्विवाद रूप से प्रामाणिक उल्लेख मिल गया है। फिर भी निश्चित रूप से एक सर्वमान्य तिथि के पाश में वह नहीं बाँधा जा सका। अब भी कोई उसे चौथी-पाँचवी शताब्दी ईस्वी के गुप्त सम्राटों का समकालीन बतलाता तो कोई छठी शताब्दी ईस्वी के मालवाधिपति यशोधर्म्मन् के साथ ही उसका नाता जोड़ने का प्रयास करता है! उसकी जन्मभूमि के विषय में भी, उज्जयिनी के प्रति उसका प्रबल अनुराग देखकर, कोई मालवा का नाम प्रस्तुत करता तो कोई काश्मीर अथवा बंगाल को ही यह गौरव प्रदान करने की अटकल लगाता है। हमारी दृष्टि में तो उसकी तिथि या स्थान का प्रश्न एक नगण्य प्रश्न है। वस्तुतः चाहे हम उसे प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व का मान लें चाहे चौथी-पाँचवी शताब्दी ईस्वी अथवा उससे भी बाद का, चाहे उसे मालवा की उपज कहें चाहे काश्मीर या बंगाल के साथ उसका नाता

जोड़ने की चेष्टा करें, उसकी यथार्थ महत्ता में इससे हमारी निगाह में कोई अंतर नहीं पड़ता। हर दशा में हम उसे अपने वाङ्मय के सुमेरु-शिखर पर ही अवस्थित देखते हैं। उसकी तिथि आदि का विवाद खड़ा करनेवाले भी तो, चाहे वे भारतीय हों या विदेशी, एक स्वर से पुकार-पुकारकर कहते हैं कि वही इस देश का सबसे महान् साहित्यिक कलाकार हुआ! उसकी काव्य-प्रतिभा की ऊँचाई और स्वर-लहरी की मधुरिमा को सारे संस्कृत वाङ्मय में दूसरा कौन कवि या नाटककार कभी पा सका? वस्तुतः वह कोरा कवि ही न था प्रत्युत् वेदव्यास या मनु की भाँति हमारी संस्कृति के आधारभूत स्तंभों का निर्माण करनेवाला एक महान् क्रान्तदर्शी ऋषि था। इसीलिए हमारे यहाँ वह सदैव देश-काल के बंधन से मुक्त माना गया—उसे इतिहास के खण्डहरों के कंकड़-पत्थरों में खोजने हम नहीं गए!

वाल्मीकि की तरह कालिदास को भी बाद की पीढ़ियों ने मधुर भावनाओं से रंजित भाव-दृष्टि से ही देखा—उनके संबंध में प्रचलित विविध लोक-गाथाएँ इसका सजीव प्रमाण हैं। ये गाथाएँ इतिहास के क्षेत्र में चाहे असंगत और हास्यास्पद प्रतीत हों, किन्तु भावों की दुनिया में उनका मूल्य कम नहीं आँका जा सकता। इसी प्रकार की दंत-कथाओं द्वारा प्रायः जातियाँ अपने महान् व्यक्तियों की स्मृति को युग-युग तक जीवित बनाए रखती हैं। उनमें जो अलौकिकता की पुट पाई जाती है वही गहरे रंगों में जाति के भाव-चित्रपट पर उन महामनीषियों की सांकेतिक विशेषताओं को उभारे रहती है। वाल्मीकि थे करुणा और मानवीय संवेदना के अवतार! तभी तो आगे आनेवाली पीढ़ियों ने एक क्रूर मानवद्रोही लुटेरे से मानवता के अन्यतम कवि में उनके परिणत होने की कल्पना की! कालिदास के समान बहुश्रुत महापुरुष भी बिना किसी अलौकिक घटना के चमत्कार के क्योंकर हमारे वाङ्मय के स्वर्ण-सिंहासन पर बिठाया जा सकता था? इसीलिए जनमस्तिष्क ने उनका जो भावचित्र बनाया, उसमें वह एक वज्रमूर्ख के रूप में हमारे सामने लाये गए, एक विदुषी के साथ उनका विवाह कराया गया, और पत्नी के समक्ष निपट गँवार और अरसिक प्रमाणित होने पर जब वह घर से निकाल दिए गए तब दैवी कृपा और कठोर साधना के फलस्वरूप एक कुण्ठित बुद्धिवाले व्यक्ति से संस्कृत के सबसे महान् कवि में उनके परिणत होने की झाँकी दिखाई गई। इसी प्रकार किसी ने दण्डिन् और भवभूति का समकालीन बनाकर इन कवियों से उनकी श्रेष्ठता साबित करने की कोशिश की तो किसी ने भोज की राजसभा के अन्यतम रत्न के रूप में उनकी कल्पना कर अंत में सिंहल देश की एक वारांगना के हाथ उनकी मृत्यु होने की ही गाथा गढ़ डाली। इतिहास के पुजारी ऐसी गाथाओं को सुनकर अवश्य ही नाक-भौं सिकोड़ेंगे, किन्तु जन-हृदय की तो अपने महापुरुषों को परखने की सदैव यही रीति रही है और रहेगी।

कालिदास की ख्याति और प्रतिभा के अमर स्मारक 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'विक्रमोर्वशी' और 'मालविकाग्निमित्र' नामक तीन नाटक, 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' नामक दो काव्य, तथा 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश' नामक दो महाकाव्य हैं। इनके अतिरिक्त भी न जाने कितनी और कृतियाँ उनके नाम से मिलती हैं, किन्तु यह निश्चित रूप से माना जा चुका है कि वे कालिदासकृत नहीं हैं—केवल उनके नाम पर मढ़ दी गई हैं। इनमें 'ऋतुसंहार' संभवतः सर्वप्रथम लिखा गया था—यह कवि के यौवनारम्भकाल की कृति मालूम होती है। नाटकों में 'मालविकाग्निमित्र' स्पष्टतः कवि का प्रथम प्रयास प्रतीत होता है। उसके शीघ्र ही बाद संभवतः 'विक्रमोर्वशी' की रचना हुई होगी। शेष कृतियाँ—'मेघदूत', 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'कुमारसंभव' और 'रघुवंश'—उनकी काव्य-प्रतिभा के विकसित स्तर की उपज दिखाई देती हैं। इन रचनाओं के काव्य-लक्षण, कथानक, वर्णन-शैली आदि की समीक्षा द्वारा उनकी महत्ता की झलक दिखाने के लिए यहाँ स्थान नहीं—इसके लिए तो आवश्यकता है अलग से पूरे एक ग्रंथ की। सूत्र रूप में यही कहा जा सकता है कि इनमें से अंतिम चार न केवल संस्कृत साहित्य ही के प्रत्युत् विश्व-वाङ्मय के चुने हुए रत्नों में स्थान पा चुकी हैं। वस्तुतः कालिदास हैं साहित्य के अगाध महा-

सागर। उनके अतुलित शब्दभाण्डार, विपुल ज्ञान-राशि, अद्वितीय निदर्शनशक्ति और सूक्ष्मतम सौंदर्यानुभूति के स्तर तक यदि समूचे विश्व-साहित्य में कोई उठते पाया जाता है तो केवल शैक्सपीयर ही। किन्तु शैक्सपीयर भी उनकी प्रज्ञा की गहराई तक नहीं पहुँच पाता। कालिदास का कवित्व वस्तुतः ऋषित्व की कोटि का है। उन्होंने जिन आदर्शों की सृष्टि की वे आनन्द के साथ ही कल्याण के भी साधक हैं। रामगिरि के शैल-शिखर से आषाढ़ के श्यामल मेघ का आह्वान कर रहा उनका विरही यक्ष, मंदाकिनी के जलकणों से धौत धवल शिला पर पलथी लगाए कठोर तप में निरत दीर्घव्रतचारिणी उनकी उमा, अथवा 'वसने परिधूसरेवसाना, नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः' का करुणार्द्र वेश धारण किए हमारे समक्ष आ रही प्रणय-प्रवञ्चिता उनकी शकुन्तला साहित्य-जगत् की कल्पनाप्रसूत मूर्त्तियाँ मात्र नहीं हैं, उनमें समाधि की अवस्था में कवि द्वारा अनुभूत निखिल प्रकृति के अंतराल में प्रकाशित 'सत्य-शिव-सुन्दर' की मंगलमयी त्रिज्योति का ही एक कल्याणकारी अंश प्रतिबिम्बित हो उठा है। यथार्थ में कालिदास हैं कवियों के भी कवि—उन्हें समझने के लिए आवश्यकता है कवि-हृदय की; साधारण आँखों से टटोलकर हम उन्हें नहीं पा सकते। जो लोग केवल 'उपमा कालिदासस्य' कहकर रह गए उन्होंने कालिदास की प्रतिभा के बाहरी आवरण का ही स्पर्श किया, उनकी सौन्दर्यानुभूति की तह में प्रतिध्वनित विश्वात्मा के अंतर्स्पन्दन का निगूढ़ स्वर वे न सुन पाए! उस स्वर को सुना जर्मन महाकवि गेटे जैसे मर्मज्ञों ने, जिसके कालिदास की शकुन्तला पर निछावर किए गए उद्‌गार के निम्न शब्द किसके अंतस्तल को एकबारगी ही नहीं हिला देते—

"क्या तू नववर्ष के आगम की सूचना देनेवाले वसन्त-पुष्पों और उसके अंतिम दिनों के परिपक्व फलों को, अथवा उस सबको जिससे मानव आत्मा उल्लसित, मुग्ध और चिरतृप्त होती, एक ही शब्द द्वारा अभिहित करना चाहता है? क्या तुझे पृथ्वी और स्वर्ग दोनों के लिए एक ही संयुक्त नाम चाहिए? तो ले, मैं कहता हूँ 'शकुन्तला' और सभी कुछ इसी एक शब्द में कह दिया गया!"

कालिदास के कला-मंदिर के द्वार पर जन-हृदय को तो 'पुराकवीनांगणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः' के रूप में श्रद्धांजलि भेंट करते हम देखते ही हैं, किन्तु जब गेटे जैसे विश्व-कवि को भी उपरोक्त शब्दावली में उनकी आरती उतारते हुए पाते हैं तो फिर यह जानने की हमें आवश्यकता नहीं रह जाती कि वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष, भारवि, दण्डिन्, बाण, हर्ष और भवभूति जैसे एक से एक दिग्गज महाकवियों की नक्षत्रमंडली में विगत पंद्रह शताब्दियों से क्योंकर कालिदास ही हमारे यहाँ खस्वस्तिक पर आसीन हैं। कालिदास के रूप में भारत ने अपना सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि पाया। आर्य संस्कृति के आदि निर्माताओं ने जिन मूल्यवान् आदर्शों की प्राण-प्रतिष्ठा इस देश के कलेवर में की थी, उन्हें साहित्य में मूर्त्तिमान् बनाने का श्रेय वाल्मीकि और कालिदास जैसे हमारे क्रान्तदर्शी गीतगायकों को ही है। वाल्मीकि ने उस यशोगीत का षड्ज स्वर उद्‌घोषित किया था, कालिदास ने उसे मानों स्वर-सप्तक के धैवत और निषाद स्वरों तक ऊँचा उठा दिया। उनकी उमा और शकुन्तला आर्य-नारी की उज्ज्वल तपस्या की चिर-प्रतीक बन गईं और रघु के रूप में तो न केवल उनके ही युग-विशेष के लिए प्रत्युत् इस देश के भावी उत्कर्ष के लिए भी राष्ट्रीय शक्ति का एक मानदण्ड हमें मिल गया। कालिदास का साहित्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है संस्कृति के क्षेत्र में। वस्तुतः गुप्तकालीन भारत के उत्थान का श्रेय समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की भुजाओं से भी अधिक कालिदास की काव्यलहरी को मिलना चाहिए। भारत, भारतवासी और भारतीय संस्कृति तीनों की गौरव-गाथा का गान कालिदास ने किया, उन्होंने प्रकृति और पुरुष दोनों की साथ-साथ आरती उतारी। इसीलिए इस देश की लाक्षणिक विचारधारा के वह सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बन गए और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ तक सभी भारतीय साहित्यकारों द्वारा उनकी अर्चना की गई। कालिदास का स्थान व्यास,

मनु, वाल्मीकि और कौटिल्य के समकक्ष है। वह केवल हमारे वाङ्मय के ही सम्राट् नहीं हैं, प्रत्युत् हमारी संस्कृति के भी एक प्रमुख विधायक हैं।

प्राचीन भारत की विशद संस्कृति की भाँति उसके वाङ्मय का भी बृहत् विस्तार है। अकेले संस्कृत ग्रंथों की ही संख्या आधे लाख से ऊपर पहुँचती है—फिर पाली, अर्ध-मागधी अथवा आदि तामिल भाषा में लिखी पुस्तकों को मिलाकर तो हमारे प्राचीन साहित्य का कलेवर इससे कहीं अधिक विपुलाकार हो जाता है। इस विशद वाङ्मय के कुछ अमूल्य रत्नों—वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदाङ्ग, दर्शन, रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र, जैन-बौद्ध-ग्रंथ, आयुर्वेद, रसायन, ज्योतिष, गणित, व्याकरण, अर्थशास्त्र आदि—का थोड़ा-बहुत परिचय विगत प्रकरणों में दिया जा चुका है और उसके एक विशिष्ट अंग काव्य-नाटक के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूप में कालिदास को भी पिछली कुछ पंक्तियों में हम पुष्पाञ्जलि अर्पित कर चुके हैं। किन्तु भारत के रत्नहार में और भी न जाने कितनी ही अमूल्य मणियाँ टँकी हैं। अकेले काव्य और नाटक ही के क्षेत्र में कालिदास से पहले भी और बाद को अनेक ऐसी रचनाएँ इस देश के साहित्यकारों ने प्रस्तुत कीं जो विश्व-वाङ्मय की अनमोल सम्पत्ति कही जा सकती हैं। कालिदास से पहले के युग में ही एक ओर जहाँ वाल्मीकीय रामायण और अश्वघोष (द्वितीय शताब्दी ई०) कृत 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' काव्य हैं तो दूसरी ओर महाकवि भास (प्रथम शताब्दी ई० पू०) के 'स्वप्नवासवदत्ता', 'चारुदत्त', 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' आदि हाल ही में खोजे गए उत्कृष्ट नाटक हैं। शूद्रककृत 'मृच्छकटिक' नाटक भी इसी युग की कृति मानी जाती है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा'—जो दुर्भाग्यवश अब केवल सोमदेवविरचित 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्रकृत 'बृहत्कथामंजरी' (ग्यारहवीं शताब्दी ई०) नामक अपने संक्षिप्त संस्करणों में ही उपलब्ध है—तथा 'पंचतंत्र' भी, जिसका अनुवाद पेह्लवी और अरबी भाषाओं तक में हो गया था, कालिदास से पूर्व के युग की ही कृतियाँ थीं। 'पंचतंत्र' के ही सारांश के रूप में बाद में 'हितोपदेश' की रचना हुई।

कालिदासोत्तरकाल में तो संस्कृत वाङ्मय के सभी अंग एक साथ ही वसंतागम की भाँति पुष्पित और पल्लवित हो उठे। भारवि (छठी शताब्दी ई०) ने 'किरातार्जुनीय' का निर्माण किया, जिसकी गणना संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ पाँच महाकाव्यों में की जाती है। दण्डिन् (सातवीं शताब्दी ई०) ने 'दशकुमारचरित' की रचना की, जो संस्कृत गद्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। बाणभट्ट (सातवीं शताब्दी ई०) ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' की भेंट दी, और श्री हर्षदेव (सम्राट् हर्ष) ने 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' तथा 'नागानन्द' नाटकों द्वारा संस्कृत-साहित्य का भण्डार भरा। कई विद्वानों के मत में 'रत्नावली', जो भारतीय आलोचनाशास्त्र की दृष्टि से सर्वाङ्गसंपूर्ण नाटक माना गया है, स्वतः बाण की ही रचना थी। इनके अतिरिक्त भट्टी अथवा भर्तृहरि (सातवीं शताब्दी ई०) ने 'रावणवध' नामक महाकाव्य, सुबंधु (सातवीं शताब्दी ई०) ने 'वासवदत्ता' नामक कथा-ग्रंथ, भट्टनारायण (नवीं शताब्दी ई०) ने 'वेणीसंहार' नाटक, विशाखदत्त (संभवतः आठवीं शताब्दी ई०) ने 'मुद्राराक्षस' नाटक, माघ (आठवीं या नवीं शताब्दी ई०) ने 'शिशुपालवध' महाकाव्य और श्रीहर्ष (बारहवीं शताब्दी ई०) ने 'नैषधीय' या 'नैषधचरित' महाकाव्य प्रस्तुत किया। किन्तु इस युग की सबसे महान् साहित्यिक विभूति प्रकट हुई महाकवि भवभूति (आठवीं शताब्दी ई०) के रूप में जिनके 'उत्तररामचरित', और 'मालतीमाधव' नाटक भारतीय वाङ्मय के सर्वोत्कृष्ट रत्नों में गिने जाते हैं।

यों तो न जाने कितने कवि और नाटककार संस्कृत में हैं—कहते हैं, अब तक ज्ञात संस्कृत नाटकों की ही संख्या छः सौ से ऊपर पहुँचती है। पर यहाँ इतना स्थान नहीं कि उन सबका हम परिचय दे सकें। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि संबंधी विवेचनात्मक ग्रंथों का भी संस्कृत में प्राचुर्य है। पर यहाँ सबका परिचय देने में हम असमर्थ हैं। हाँ, एक ग्रंथरत्न का उल्लेख अति आवश्यक है, जो सारे संस्कृत वाङ्मय में अपने ढंग का एक ही है। यह है कल्हण (बारहवीं शताब्दी) कृत 'राजतरंगिणी', जो प्राचीन भारतीय वाङ्मय का सबसे महत्वपूर्ण पद्यबद्ध इतिहास-ग्रंथ है।

मध्यकालीन भारतीय सम्राट्

अपने अमर महाकाव्य 'रघुवंश' की आरंभिक पंक्तियो ही में कविकुलगुरु कालिदास ने जिन उदात्त स्तुति-वाक्यों* द्वारा सूर्यवंश के अमोघवीर्य राजर्षियों को पुष्पाञ्जलि चढ़ाई है, वे उन पुराणप्रसिद्ध लोकनायकों के लिए तो सार्थक हैं ही, साथ ही स्वतः कालिदास के अपने युग विशेष के उन कर्मठ राष्ट्र-निर्माताओं के संबंध में भी वे अक्षरशः लागू होते हैं, जिनके नेतृत्व में भारत की गौरव-लक्ष्मी का शृंगार पुनः एक बार रघु और रामचन्द्र के स्वर्ण-युग की याद दिलाने लगा था। वस्तुतः दिलीप, रघु और रामचन्द्र ही की लोकहितमूलक दिव्य परम्परा के अनुगामी समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कंदगुप्त और हर्षवर्द्धन आदि मध्यकालीन आर्य सम्राट् भी थे। उनके चरित्र में कवि के 'आजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्' आदि वाक्य पूर्वजो ही की भाँति पुनः चरितार्थ हो उठे थे। समुद्रगुप्त के रूप में तो मानों साक्षात् रघु ही फिर से आर्यभूमि पर उतर आए थे और अश्वमेध यज्ञ के प्रतीक द्वारा इस महादेश की राष्ट्रीय शक्ति ने एकराटता की घोषणा कर भारतीय गगन को पुनः शत्रुओं का दिल दहला देनेवाले सिंहनाद के स्वर से गुँजा दिया था। न केवल राजनीतिक शक्तिका ही इस गौरव-युग में चरम विकास हुआ बल्कि लोक-जीवन भी सांस्कृतिक भूमिका के कई स्तर ऊपर उठ गया। साहित्य, विज्ञान और कला में तो इस युग में अद्वितीय पुष्प खिले। यह था भारतीय इतिहास में कालिदास और भारवि, आर्यभट और वराहमिहिर, बाणभट्ट और भवभूति का युग। राष्ट्रीय उत्थान और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दृष्टि से बाद का कोई भी युग फिर इसकी समानता न कर सका।

अशोक की उदार नीति के कारण राष्ट्र की केन्द्रीय शासन-शक्ति जब शिथिल पड़ गई और फलस्वरूप मौर्य विजित का ढाँचा तेज़ी के साथ तितर-बितर हो चला, तब देश में वैदिक कर्मयोग से अनुप्राणित पुरातन विचारधारा, जो अपना आदर्श मनु, रघु, युधिष्ठिर और कौटिल्य की परंपरा में खोजती थी, क्रमशः फिर से बल पकड़ने लगी। इस लहर की प्रथम आवेगपूर्ण अभिव्यक्ति हुई शुङ्-सातवाहन युग में, जब पतंजलि के शिष्य पुष्यमित्र शुङ् के हाथों मौर्य साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर पुनः वैदिक आदर्शों के पोषक राजतंत्र की प्रस्थापना का प्रयास किया गया। किन्तु उसकी चरम सिद्धि हुई गुप्तकाल में, जब चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, और स्कंदगुप्त की बलिष्ठ भुजाओं ने भारत को पुनः एक राष्ट्र-सूत्र में बाँधकर आतरिक सुख-शांति के वातावरण द्वारा कला-कौशल, साहित्य-विज्ञान और दर्शन एवं धर्म के विकास के लिए एक कंटकरहित क्षेत्र तैयार कर दिया। प्रयाग के किले में सुरक्षित सुप्रसिद्ध अशोकस्तंभ पर सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा खुदवाया गया एक विजयाभिलेख अंकित है, जिससे हमें गुप्त राजशक्ति के उत्थान और उसके आदर्श की सुन्दर झलक मिलती है।

* दे० 'रघुवंश', सर्ग १, ५-९।

गुप्तसाम्राज्य की संस्थापना का श्रेय चंद्रगुप्त प्रथम (३२०-३४० ई०) को दिया जाता है, किन्तु उसकी श्रीवृद्धि और सीमा-विस्तार का कार्य उनके पुत्र समुद्रगुप्त (३४०-३८० ई०) के ही हाथों संपन्न हुआ था। महाराज समुद्रगुप्त की टक्कर के रणकुशल नेता इतिहास में इने-गिने ही हुए हैं। पाश्चात्य इतिहासकार उन्हें प्रायः 'भारत का नेपोलियन' कहकर अभिहित करते हैं। समुद्रगुप्त का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था दक्षिण भारत को भी उत्तर के साथ एक ही राष्ट्रीय झंडे के नीचे लाने का प्रयास। दक्षिण-कोसल एवं महेन्द्र (उड़ीसा) को जीतकर महाकान्तार को पार करते हुए वह कांची के पल्लव राज्य तक जा पहुँचे थे। वह केवल एक योद्धा ही न थे, प्रत्युत् एक कलाप्रेमी सुसंस्कृत व्यक्ति भी थे। काव्य और संगीत से उन्हें विशेष अनुराग था। उनके कुछ सिक्कों पर वीणावादन करते हुए उनका एक चित्र मिलता है। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१५ई०) के राज्य में भारत की भाग्यलक्ष्मी समसामयिक संसार के सब देशों से ऊँची चढ़ गई। कालिदास आए और उज्जयिनी का राजक्षेत्र देश भर के साहित्य-साधकों और कला-पुजारियों का तीर्थ बन गया। उस स्वर्णयुग के चिरस्मारक के रूप में कालिदास की अमर कृतियाँ तो हमारे बीच में विद्यमान हैं ही, किन्तु साथ ही पाषाण और मिट्टी की सुन्दर मूर्त्तियों, सोने-चाँदी के सिक्कों अथवा दिल्ली में सुरक्षित विक्रमादित्य के लौह स्तंभ के रूप में तत्कालीन कला के भी जो अवशेष आज दिन बचे रह गए हैं वे हमारा मस्तक सदैव के लिए गौरवान्वित रखने के लिए पर्याप्त हैं। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के ही युग में फाहियान नामक सुप्रसिद्ध चीनी यात्री चीन से भारत आया था। चंद्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त और पौत्र स्कंदगुप्त के राज्यकाल में भारत के उत्तर-पश्चिमी द्वार पर हूणों का ज्वार भयप्रद गति से टकराने लगा। किन्तु स्कंदगुप्त की भुजाओं ने उसे आगे न बढ़ने दिया। जब गुप्तों की शक्ति शिथिल हो चली तब मध्यभारत के यशोधर्म्मन् नामक एक और पराक्रमी आर्य सम्राट् ने एकाएक प्रकट होकर हूणों के सरदार मिहिरकुल को ऐसी ठोकर दी कि आक्रमणकारी हूण कुलबुला उठे। किन्तु यशोधर्म्मन् का उदय एकाकी पुच्छल तारे की तरह हुआ था और वैसा ही उसका अस्त भी हुआ। उसके बाद भारतीय राजनीतिक गगन में कुछ दिनों के लिए अँधेरा-सा छा गया। परंतु उन्हीं दिनों उत्तरी भारत के एक छोटे-से राज्य—थानेश्वर—में राष्ट्र-शक्ति का एक और पौधा पुनः बल पाने लगा था, जिससे कालांतर में महान् वटवृक्ष के रूप में राजर्षि हर्षवर्द्धन (६०६-६४७ ई०) का आविर्भाव हुआ। हर्ष की जीवन-कहानी एक रोमांचक नाटक-सी है। कहते हैं, सोलह वर्ष की अल्पायु ही में काषाय धारणकर वह मठ में प्रविष्ट होने जा रहे थे कि उन्हें अपनी बहन राज्यश्री के पति कन्नौज-नरेश की एक क्षुद्र राजा द्वारा हत्या होने, स्वयं राज्यश्री के बंदिनी बनाए जाने और उसे छुड़ाने के प्रयत्न में बड़े भाई राज्यवर्द्धन के भी मारे जाने का समाचार मिला। इन दुर्घटनाओं ने हर्ष में रौद्र भाव जगा दिया। उन्होंने क्षुद्र अत्याचारियों के कारण फैली हुई अराजकता से मातृप्रदेश को मुक्त करने का कठोर संकल्प किया और छः वर्ष की अल्पावधि ही में विंध्य-मेखला तक का सारा उत्तरी भारत उनके झंडे के नीचे आ गया। दक्षिण में इन्हीं दिनों उन्हीं जैसे एक अन्य भारतीय सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय का प्रताप दमक रहा था, इसलिए हर्ष का साम्राज्य नर्मदा के उस पार न फैल सका। किन्तु इसकी आवश्यकता भी न थी। पुलकेशिन् और हर्ष के युग्म नेतृत्व में भारतीय राष्ट्र पुनः सुख-शांति के शिखर पर पहुँच गया। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री य्वान च्वाङ् इसी युग में चीन से भारत आया था। वह चौदह वर्ष इस देश में रहा। उसका यात्रा-वृत्तांत तत्कालीन भारत की समृद्धि का ज्वलंत आलेख है। कहते हैं, हर्ष शैव थे किन्तु बौद्ध और जैन धर्मों के प्रति भी उनकी समान आदर की दृष्टि थी। साहित्य और कला संबंधी उनका अनुराग तो इसी से प्रकट है कि उन्होंने न केवल बाणभट्ट जैसे कवियों को ही आश्रय दिया, प्रत्युत् स्वयं भी संस्कृत में तीन उत्कृष्ट नाटकों का निर्माण किया। समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त, और हर्ष मध्यकालीन भारतीय पुनर्जागरणरूपी महाकाव्य के तीन प्रधान सर्ग हैं—उनका इतिहास इस देश की राष्ट्रीय शक्ति की अभिव्यक्ति की एक प्रशस्ति के रूप में सदैव हमें बल देता रहेगा।

मीमांसक और बौद्ध पंडित

विगत एक प्रकरण में दर्शन या तत्त्वचिंतन के क्षेत्र में इस देश की प्राचीन साधना का उल्लेख करते हुए छः मुख्य दर्शनों और उनके निर्माताओं का संक्षिप्त परिचय हमने दिया था। तदनन्तर महावीर और बुद्ध द्वारा प्रस्तुत किए गए क्रान्तिकारी मतो और विचारो का भी यथाप्रसंग उल्लेख किया गया और नागार्जुन के हाथों बौद्ध धर्म के दार्शनिक एवं उपासनापरक रूपान्तरीकरण की भी कुछ चर्चा हमने की। अचरज नहीं यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि नागार्जुन और शंकर के बीच के छः सौ वर्ष के सुदीर्घ युग में, जबकि काव्य-नाटक, कथा-वार्त्ता, अलंकार-छंद, ज्योतिष-गणित और आयुर्वेद के क्षेत्र में हमारे यहाँ एक से एक मूल्यवान् रत्न पैदा हुए, क्या दर्शन और तत्त्वचिन्तन का क्षेत्र बिल्कुल ही सूखा पड़ा रहा? वस्तुतः यह कहना या मानना भारतीय प्रतिभा के प्रति अन्याय करना होगा, क्योंकि और किसी क्षेत्र में चाहे बीच-बीच मे विचारों की स्रोतस्विनी हमें क्षीणकाय होते दिखाई दे, किन्तु दर्शन और तत्त्वचिंतन की धारा तो भारत की प्राणवाहिनी जीवनधारा रही है—वह निरंतर प्रवाहित होती रही है और रहेगी। अतएव यह कहना कि मध्ययुग में हमारी दार्शनिक चिन्ता सुप्त हो गई थी, ग़लत है।

वस्तुतः जहाँ एक ओर हमारी जातीय प्रतिभा कालिदास और भवभूति के काव्यो और नाटकों अथवा आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के ज्योतिषिक सिद्धान्तों के रूप में प्रस्फुटित हुई वहाँ साथ ही साथ उसमें आर्यदेव और वसुबन्धु, असङ्ग और दिङ्नाग, वात्स्यायन और प्रशस्तपाद, ईश्वरकृष्ण और उद्योतकर, धर्मकीर्त्ति और शांतिरक्षित तथा गौड़पाद और कुमारिल जैसे उद्भट विचारको, तार्किकों, टीकाकारों और पंडितों के रूप में भी अगणित पुष्प खिले, जिनमें से कई का कीर्त्तिसौरभ तो भारत की सीमाओं को लाँघकर तिब्बत, चीन, और जापान तक फैल गया।

इस युग के पांडित्य में दो वर्ग के विद्वानों का प्राधान्य है—एक बौद्ध मत के विभिन्न संप्रदायों के विचारों का प्रतिपादन, स्पष्टीकरण, एवं तिब्बत, चीन आदि विदेशों में उनका प्रचार करनेवाले उद्भट बौद्ध पंडितों का, दूसरे पुनर्जागरित वैदिक धर्म के पुरातन कर्म-मार्ग के प्रति लोगों के मन में आस्था जमाने का प्रयत्न करनेवाले मीमांसकों और बौद्ध धर्म के दार्शनिक युक्ति-जाल एवं तत्त्ववाद का तर्क द्वारा सामना करनेवाले नैयायिकों का। नागार्जुन और अश्वघोष का तो हम उल्लेख कर ही चुके हैं। उनके बाद चौथी शताब्दी ईस्वी में आर्यदेव

हुए, जिन्होंने माध्यमिक संप्रदाय के अनेक ग्रंथ लिखे। इनकी कृतियों में 'चतुःशतक' सबसे प्रसिद्ध है। आर्यदेव के बाद असंग या आर्यासंग हुए, जो महायान के योगाचार नामक संप्रदाय के पहले आचार्य माने गए हैं। इनके लिखे बारह ग्रंथों में से अधिकांश के चीनी और तिब्बती भाषा में अनुवाद मिलते हैं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'योगाचार-भूमिशास्त्र' है। असंग ही के छोटे भाई सुप्रसिद्ध वसुबंधु (४१०-४६० ई०) थे, जिनका प्रधान ग्रंथ 'अभिधर्मकोश' चीन और जापान में बौद्धमत की पाठ्यपुस्तक ही बन गया है। वसुबंधु के ही शिष्य प्रख्यात दिङ्नाग (४५०-५२० ई०) थे, जो मध्यकालीन बौद्ध न्याय के प्राणप्रतिष्ठापक माने गए हैं। दिङ्नाग की कोटि के दिग्गज तर्कशास्त्री संसार में इने-गिने ही हुए हैं। उनकी प्रखर तर्क-शैली, सूक्ष्म विवेचना-शक्ति और अकाट्य युक्ति-प्रहार के कारण ही उन्हें 'तर्क-पुङ्गव' की उपाधि दी गई थी। कहते हैं, दिङ्नाग और कालिदास में घोर प्रतिद्वन्द्विता थी। दिङ्नाग का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रमाण-समुच्चय' है, जो भारतीय तर्कशास्त्र का एक अमूल्य रत्न है। दिङ्नाग ने गौतम के न्यायसूत्र पर वात्स्यायन (लगभग ४०० ई०) कृत 'न्याय-भाष्य' की बौद्ध दृष्टिबिंदु से कटु आलोचना की, जिसके फलस्वरूप भारतीय न्याय के क्षेत्र में बौद्धों और नैयायिकों में एक अनवरत संग्राम छिड़ गया। छठी शताब्दी ई० में उद्योतकर ने 'न्यायवार्त्तिक' लिख-कर दिङ्नाग के वात्स्यायन पर किए गए प्रहारों का प्रत्युत्तर दिया और उसी के समकालीन धर्म-कीर्त्ति ने पुनः उद्योतकर की युक्तियों को काटकर दिङ्नाग का पृष्ठपोषण किया। इसी प्रकार नवीं शताब्दी में बौद्धों की ओर से पुनः धर्मोत्तर तथा नैयायिकों की ओर से वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, जयन्त आदि मैदान में उतरे। इनमें वाचस्पति मिश्र एक सर्वतोमुखी प्रतिभा के पंडित थे। वह सभी दर्शन-प्रणालियों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसीलिए वह 'सर्वतंत्रस्वतंत्र' कहकर अभिहित किए गए हैं। 'सांख्य-कारिका' के रचयिता ईश्वरकृष्ण (तीसरी शताब्दी ई०) और पतंजलिकृत 'योग-सूत्र' के भाष्यकार व्यास (चौथी शताब्दी ई०) भी इसी युग में हुए। किन्तु इस युग के ब्राह्मण-धर्म संबंधी पुनर्जागरण के सबसे महान् नेता कुमारिल भट्ट हुए, जो माधवकृत 'शंकरदिग्विजय' के अनुसार श्री शंकराचार्य ही के समकालीन थे। कुमारिल ने बौद्ध मत का ज़ोरों से खण्डन किया और वैदिक कर्म-मार्ग की पुनः स्थापना करने के लिए प्रबल आंदोलन मचाया। उन्होंने जैमिनिकृत 'मीमांसा सूत्र' तथा शबरकृत उसके भाष्य पर पांडि-त्यपूर्ण टीका लिखी। कुमारिल का महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने विगत अनेक शताब्दियों को लाँघ-कर वेदों के रूप में संचित इस देश की अनमोल निधि की ओर पुनः लोगों का ध्यान आकर्षित कर दिया। जब शंकर के रूप में इस देश को पुनः वैदिक आत्मवाद का रहस्य समझानेवाला शिक्षा-गुरु मिल गया, तो उसे उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के तत्त्व-ज्ञान को फिर से अंगीकार करते देर न लगी। कुमारिल के बाद भी उनकी मीमांसावादी परंपरा जारी रही, जिसमें मंडन मिश्र और प्रभाकर जैसे उद्भट विद्वान् पैदा हुए। यह वही मण्डन थे, जो शंकर के साथ शास्त्रार्थ में पराजित होकर उनके शिष्य बन गए थे।

भारतीय इतिहास के इस पांडित्यपूर्ण युग की विभूतियों में उन कर्मठ बौद्ध यात्रियों और अध्यव-सायी पंडितों का भी कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जिन्होंने दुरूह हिमालय की शृङ्गमाला को लाँघकर तिब्बत और चीन में बुद्ध का संदेश पहुँचाया था तथा असंख्य भारतीय ग्रंथों को यहाँ से वहाँ ढोकर उनका चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनुवाद भी किया था। इन महामनीषियों में सबसे उल्लेखनीय नाम कुमारजीव का है, जिनके द्वारा चीनी भाषा में अनूदित लगभग सौ ग्रंथो का उल्लेख मिलता है। कुमारजीव के गुरु विमलाक्ष ने भी चीन जाकर भारत-चीन की सांस्कृतिक संबंध-स्थापना में महत्त्व-पूर्ण योग दिया था। चीन की भाँति तिब्बत में जिन भारतीय महापुरुषों ने संस्कृति का प्रचार किया उनमें आचार्य शांतिरक्षित (आठवीं शताब्दी ई०), पद्म-संभव, कमलशील, धर्मकीर्ति, विमलमित्र, दीपंकर श्रीज्ञान आदि के नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य हैं। आचार्य शांतिरक्षित और दीपंकर श्रीज्ञान की तो तिब्बत में बोधिसत्त्व के रूप में पूजा की जाती है। शांतिरक्षित कृत 'तत्त्वसंग्रह' बौद्ध वाङ्मय का एक अमूल्य दार्शनिक ग्रंथ है।

अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि अपने बाद भी देश को जगाए रखने के लिए उन्होंने जो चार प्रधान मठ या प्रचार-केन्द्र संस्थापित किए थे उनके लिए उन्होंने भारत के चार मुख्य कोनों को ही चुना था! शंकर ने भारतभूमि को एक ही धर्म और संस्कृति के सूत्र में बँधे हुए एक महाराष्ट्र के रूप में देखने का ही आदर्श सदैव अपने सामने रक्खा। अपने पूर्वगामी रघु, कौटिल्य या समुद्रगुप्त की भाँति वह भी 'चातुरन्त' एकराट् साम्राज्य-संस्थापन की नीति में ही विश्वास करते थे—अंतर केवल यही था कि वह भूमि के बदले विचारों की दुनिया में ही उस एकराटत्व की प्राप्ति की आकांक्षा रखते थे। इस दृष्टि से उनका 'दिग्विजय' का प्रयास रघु और समुद्रगुप्त की दिग्विजयों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। वस्तुतः रघु या समुद्रगुप्त के बजाय अधिक समानता उनकी बुद्ध या महावीर से थी। किन्तु बुद्ध या महावीर भी अपने जीवन-काल में वह व्यापक विजय न पा सके जो शंकर ने अपने अल्पकालिक जीवन में प्राप्त कर ली थी। बुद्ध या महावीर के साम्राज्यों का विस्तार वास्तव में उनके बाद ही हुआ था—वे स्वतः जीवनभर कोसल या मगध की परिमित परिधि में ही भटकते रहे। इस दृष्टि से इतने थोड़े-से समय में ही इतने व्यापक और दुरूह क्षेत्र में एकराटता स्थापित कर लेनेवाला शंकर के समान दूसरा विजेता संसार में न हुआ।

भारत के अधिकांश प्राचीन महापुरुषों की भाँति शंकर की जीवनलीला का वृत्तान्त भी हमें उनके भक्तों की असीम श्रद्धा द्वारा कल्पित अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों से रँगा हुआ ही मिलता है। यह वृत्तान्त उन विविध शंकर-दिग्विजयों में संकलित है, जिनकी रचना उनके युग से अनेक वर्ष बाद माधवाचार्य, आनंदगिरि, चिद्विलास और सदानन्द आदि उनके अनुयायियों ने क्रमशः की थी। इन विविध वृत्तान्तों में कई बातों में मतान्तर भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, जहाँ माधव आदि शंकर का जन्म-स्थान मलाबार के कालड़ी गाँव को मानते हैं, वहाँ आनंदगिरि इस संबंध में चिदंबरम् का नाम प्रस्तुत करते हैं। किन्तु बहुमत इसी पक्ष में है कि वह मलाबार के उपरोक्त ग्राम के सुप्रसिद्ध नाम्बूद्री ब्राह्मणों के किसी कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम शिवगुरु था और पितामह विद्याधर या विद्याधिराज स्थानीय सुप्रसिद्ध शिवमंदिर के प्रधान अध्यक्ष रह चुके थे। कहते हैं, शंकर का उपनयन-संस्कार होने के पूर्व ही पिता शिवगुरु इस लोक से चल बसे। किन्तु शंकर की शिक्षा-दीक्षा में इससे कोई अन्तर न आने पाया। शीघ्र ही वह वेद, वेदाङ्ग आदि में पूर्ण पारंगत हो गए। 'शंकरदिग्विजय' के अनुसार तो आठ वर्ष की अवस्था ही में यह असाधारण मेधावी बालक कठिन दार्शनिक समस्याओं की मीमांसा करने लगा था! विद्याध्ययन की समाप्ति पर जब उनके विवाह की चर्चा शुरू हुई तो शंकर बहुत घबड़ाए। उन्होंने अपना कार्यक्रम पहले ही से निश्चित् कर रक्खा था—संसार के बंधन में फँसना वह नहीं चाहते थे। किन्तु माता का स्नेह राह रोके जो खड़ा था! कहते हैं, शंकर ने किसी न किसी प्रकार आग्रहपूर्वक माता से संन्यास ग्रहण करने की अनुमति प्राप्त कर ली। इस संबंध में प्रायः एक चमत्कारपूर्ण गाथा का यों उल्लेख किया जाता है कि शंकर ने नदी में बाढ़ के समय मगर द्वारा अपनी टाँग पकड़ लिये जाने अथवा डूबने का दृश्य प्रस्तुत कर मा को या तो उन्हें संन्यास ग्रहण कर लेने देने या फिर सदा के लिए गँवा देने की समस्या में उलझा दिया था और इस प्रकार अपनी मनचाही अनुमति प्राप्त कर ली थी। जो कुछ भी हो, ज्योंही शंकर युवावस्था के द्वार पर पहुँचे वह एक ब्रह्मचारी से त्यागी संन्यासी बन गए। कहते हैं, नर्मदा के तट पर संन्यासियों के एक प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र के आचार्य गोविन्दपाद से, जो सुविख्यात गौड़पाद के शिष्य थे, शंकर ने दीक्षा ली और उन्हें ही जीवनभर अपना गुरु माना। आत्मतत्त्व की शिक्षा ले वह गुरु के आदेशानुसार एक परिव्राजक के रूप में घूमते-फिरते पंडितों के गढ़ काशी पहुँचे और वहीं उन्होंने पहलेपहल अपने प्रखर दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन तथा अन्य मतों और संप्रदायों का खण्डन आरंभ किया। पहले साधारण लोग ही सामने आए, किंतु कालांतर में बड़े-बड़े पंडित भी जूझ पड़े। शास्त्रार्थों की झड़ी लग गई। बौद्ध, जैन, वैदिक कर्मकाण्डी,

शाक्त, पाशुपत, भैरव, गाणपत्य, कापालिक सभी प्रकार के मतवादियों से शंकर का सामना होने लगा। किन्तु उनकी अकाट्य तर्क-वाणी और प्रकाण्ड दार्शनिक युक्तियों के समक्ष उपरोक्त कोई भी प्रतिवादी न टिक पाया। उनके प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ चला और फलस्वरूप उनके आसपास शिष्यों की एक टोली जमा होने लगी। कहते हैं, काशी ही में रहकर शंकर ने अपने अधिकांश भाष्य-ग्रंथ लिखे थे और 'भज गोविंदं' जैसे बाद को अति लोकप्रिय हो जानेवाले गीतों या स्तोत्रों की भी रचना काशी-निवास के दिनों ही में हुई थी। बीच-बीच में विश्रान्ति के लिए संसार के कोलाहल से दूर हिमालय की गोद में स्थित बदरिकाश्रम को भी वह कभी-कभी चले जाया करते थे। उनके विचार अब दृढ़ सिद्धान्तो का रूप लेने लगे थे और उपनिषद्, गीता तथा वेदान्त-सूत्रों पर लिखित उनके भाष्यो के रूप में उनकी एक लिखित रूप-रेखा भी बँध चुकी थी। स्वतः काशी ही में उन्हें राजकीय संरक्षण भी मिल चुका था और जनता द्वारा तो नित्य ही उनकी आरती उतारी जाने लगी थी। शंकर ने देखा कि जो आवाज़ उन्होंने उठायी थी उसे सारे देश में गुँजा देने का समय अब आ गया था। वेदों और उपनिषदों की खोई हुई ज्ञान-निधि को पुनः भारत के जन-हृदय में प्रस्थापित कर उसका यथार्थ मूल्य समझाने के लिए जो छोटा-सा आंदोलन उन्होंने खड़ा किया था उसे देश-व्यापी बनाने की धुन अब उनके मन में समा गई, अतएव बिना अधिक विलंब किए वह उस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए शिष्यों की एक चुनी हुई टोली ले काशी से निकल पड़े। उनका यही ज्ञान-वितरण-संबंधी प्रयाण उनकी 'दिग्विजय-यात्रा' के नाम से अभिहित किया जाता है। विस्तारभय के कारण यहाँ हम इस महान् यात्रा का संपूर्ण विवरण देने में असमर्थ हैं—जिन्हें विशेष उत्कंठा हो वे माधव-कृत 'शंकरदिग्विजय' में उसका हाल पढ़ सकते हैं, यद्यपि बहुत अंशो में वह वृत्तांत अतिरंजित भी है। किन्तु इस विजयगाथा के दो-एक रोचक प्रसंगो का उल्लेख यहाँ अनुपयुक्त न होगा। कहते है, काशी से चलकर शंकर ज्योंही प्रयाग पहुँचे, वैसे ही उन्हें यह दुःखद समाचार मिला कि मीमांसकों के नेता सुप्रसिद्ध कुमारिल भट्ट, जिन्होंने उत्तरी भारत में हर कहीं बौद्ध धर्म के पैर उखाड़ दिए थे, प्रायश्चित के रूप में चिता पर अपने जीवन का अन्त करने जा रहे थे। शंकर इस दारुण समाचार को सुनकर स्तब्ध रह गए—वह तुरंत ही उस स्थान की ओर लपके, जहाँ यह काण्ड होने जा रहा था। किन्तु वह वहाँ पहुँचे उसके पूर्व ही भट्ट तुषानल-प्रवेश कर चुके थे—उनकी चिता में आग लगा दी जा चुकी थी! फिर भी शंकर ने कुमारिल को अपने आने की सूचना दिलाई और उनसे इस दारुण संकल्प को त्याग देने के लिए बहुत अनुनय-विनय की। पर वह कर्मठ ब्राह्मण विचलित न हुआ और सबके देखते-देखते उसने अपना शरीर भस्मीभूत हो जाने दिया! पूछने पर भट्ट ने अपने प्रायश्चित के दो कारण बतलाए थे—एक तो यह कि उन्होंने बौद्ध दुरभिसंधि और उनकी गुप्त कमज़ोरियाँ जानने के लिए छद्मवेश में बौद्ध गुरु से शिक्षा ले बाद में गुरु के प्रति विश्वासघात किया था; दूसरे वेदों को स्वतःप्रमाणरूप साबित करने के प्रयास में ईश्वर की सत्ता को परोक्ष रूप से अस्वीकार-सा किया था। कुमारिल के अंत की यह हृदयविदारक कारुणिक गाथा ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ तक सच है तथा शंकर के वह समकालीन भी थे या नहीं, ये प्रश्न विवादास्पद हैं। किन्तु उस महापुरुष के चरित्र की जो झलक हमें मिलती है, उसको देखते हुए अचरज नहीं यदि सचमुच ही वह इस प्रकार के हठ पर उतारू हो गए हों!

शंकर के जीवन की दूसरी एक प्रसिद्ध घटना कुमारिल के शिष्य मिथिला के प्रकाण्ड मीमांसक पंडित मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ की वह गाथा है, जो आज हमारे घर-घर की कहानी बन गई है। इस शास्त्रार्थ की सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि विवाद का निर्णय करने के लिए दोनों पक्ष की ओर से मण्डन की विदुषी पत्नी भारती का चुनाव किया गया था। कहते हैं, शर्त्त यह लगी थी कि जो विवाद में हारे वही प्रतिस्पर्द्धी का धर्म ग्रहण करे, अर्थात् मण्डन हारें तो संन्यासी हो जायँ और शंकर हारें तो काषाय छोड़ गृहधर्म स्वीकार करें, जिससे अधिक अपमानजनक दण्ड एक संन्यासी के लिए हो नहीं सकता! कई दिन

तक यह शास्त्रार्थ जारी रहा। अंत में भारती ने पति के हारने का निर्णय दिया! कहा जाता है कि मण्डन के बाद स्वतः भारती ने भी शंकर के साथ शास्त्रार्थ किया था, किंतु मण्डन और भारती दोनों ही बाद में शंकर के शिष्य बन गए। मण्डन सुरेश्वराचार्य के नाम से बाद को शंकर द्वारा संस्थापित दक्षिण के शृंगेरी मठ के प्रथम आचार्य हुए। वहीं भारती की यादगार में एक मंदिर भी निर्मित किया गया, जो आज तक मौजूद है।

शंकर की जीवनकहानी के साथ एक हृदय-विदारक प्रसंग जुड़ा हुआ है, जिससे उनकी मानवीय संवेदना की गहराई की एक झलक हमें मिलती है। कहते हैं, शृंगेरी मठ की स्थापना के बाद एक दिन बिना किसी को साथ लिये शंकर मा को देखने के लिए कालड़ी को चल दिए। उनकी माता वृद्ध हो चली थी और चारपाई पर पड़ी अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रही थी। ज्योंही शंकर पहुँचे, मा ने सदा के लिए अपनी आँखें बंद कर लीं। शंकर संन्यासी थे—हिन्दू शास्त्रानुसार वह मृतक का संस्कार नहीं कर सकते थे। किन्तु मा के प्रति अपने कर्त्तव्य के आगे उन्होंने शास्त्रों की कोई परवा न की और वह उसका अग्नि-संस्कार करने को तैयार हो गए! इस पर उनके संबंधी तथा गाँव के अन्य सभी ब्राह्मण उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए। वृद्धा के शव को श्मशान तक ले जाने में सहायता देना तो दूर रहा, उल्टे उन लोगों ने शंकर को जलाने को लकड़ी और आग तथा चिता रचने को जगह तक न दी! कहते हैं, जब और कोई चारा न दिखाई दिया तो शंकर ने अकेले ही कमर कसकर मा का शव उठाया। वह उसे अपने घर के पिछवाड़े के आँगन में ले गए और इधर-उधर से कुछ सूखी लकड़ियाँ इकट्ठा कर चिता रच अकेले ही मा का दाह-संस्कार किया। युग-युग से मानव-हृदय पर पदाघात करते रहनेवाले निष्ठुर मदांध समाज की अट्टहास-ध्वनि की परवा न कर अकेले ही माता का शव उठाए चिता की ओर बढ़ रहे महापुरुष शंकर का यह चित्र किस सहृदय को एक बार न रुला देगा?

वापस शृंगेरी लौटकर शंकर ने दक्षिण भारत के पूर्वी समुद्रतटवर्ती प्रदेश की ओर प्रयाण किया और जगह-जगह शास्त्रार्थ और उपदेश द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार आरंभ किया। इसी यात्रा में पुरी में भी उन्होंने एक मठ प्रस्थापित किया, जो गोवर्धन मठ के नाम से अब भी विद्यमान है। तदनन्तर मध्यभारत की ओर मुड़कर उज्जैन के भैरव-उपासकों को परास्त करते हुए वह गुजरात और काठियावाड़ के मार्ग से द्वारका पहुँचे, जहाँ पुनः एक मठ स्थापित किया गया, जो शारदा मठ कहलाता है। 'शंकरदिग्विजय' के अनुसार वहाँ से वह पुनः उत्तर भारत में पहुँचे, जहाँ उनका अनेक उद्भट विद्वानों से शास्त्रार्थ हुआ। कहते हैं, वह काश्मीर भी गए थे, जो उन दिनों विद्या का प्रमुख केन्द्र था। श्रीनगर में एक पहाड़ी अब भी 'शंकराचार्य की पहाड़ी' कहलाती है! शंकर ने शास्त्रार्थ में अंतिम विजय आसाम में कामरूप या गौहाटी नामक स्थान में अभिनव गुप्त नामक एक प्रकाण्ड शाक्तभाष्यकार पर पाई। कहते हैं, यहीं से उन्हें भयंकर भगंदर रोग हो गया, जो अंत में उनके प्राणों का ग्राहक हो गया। कुछ आराम होने पर अंत समय में वह हिमालय में अपने प्रिय बदरीआश्रम को चले गए थे और वहाँ एक मठ 'योषि मठ' (जोशी मठ) तथा बद्रीनारायण के मंदिर की उन्होंने संस्थापना की थी। तदुपरान्त वह केदारनाथ चले गए, जहाँ ३२ या ३८ वर्ष की अल्पायु मे ही ८२८ ई० में उन्होंने देह-विसर्जन कर दिया।

शंकर का 'अद्वैतवाद' या 'वेदान्त' भारतीय दर्शन का सबसे गहन और प्रकाण्ड विषय है। उस पर सैकड़ो विशद ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, फिर भी बहुतेरे लोगों के लिए उसकी बारीकियो का समझ पाना कठिन है। यो तो 'तत्त्वमसि' या 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसे श्रुति-वचनों में सूत्र रूप में उसका सारा निचोड़ मानों भर दिया गया है, किन्तु इन्हीं सूत्र-वाक्यो की विशद व्याख्या के रूप में शंकर ने जगत् और जीव की नामरूपात्मक मिथ्या प्रतीति करानेवाली 'माया' या 'अविद्या' की असत्ता और उसकी उपाधि से रहित निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की एकमात्र सत्ता का जो दार्शनिक 'वाद' हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, उसके सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने के लिए इन पंक्तियों से कहीं अधिक स्थान चाहिए। यहाँ तो उस ऋषितुल्य महापुरुष के दिव्य व्यक्तित्व और जीवन की ही एक झलक पाकर हमें संतोष कर लेना होगा।

रामानुज

भारत के सांस्कृतिक स्वरूप-निर्माण में उत्तर की तरह दक्षिण ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। विशेषकर बौद्ध मत के उच्छेद और निर्वासन के बाद ज्ञान अथवा भक्ति-मूलक जो अनेक धार्मिक लहरें मध्ययुग के उत्तर-काल में इस देश मे उठीं उनका मूल उद्गम-स्थान दक्षिण भारत ही था। इस युग में दक्षिण ने एक के बाद एक अनेक महापुरुष उत्पन्न किए, जिनके द्वारा प्रवर्त्तित विचारधाराओं की इस देश के जन-मस्तिष्क पर गहरी छाप अंकित हुई। आठवीं शताब्दी में दक्षिण ही में शंकर हुए थे। उनके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य रामानुज आए, जिन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का वैष्णव दृष्टिकोण से संशोधन कर विशिष्टाद्वैती भक्तिधारा प्रवाहित की। यह क्रम यहीं आकर समाप्त न हो गया। बारहवीं शताब्दी में पुनः अन्य एक आचार्य मध्व पैदा हुए, जिन्होंने विशुद्ध द्वैतवाद का प्रवर्त्तन किया। इनके बाद पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में हुए वल्लभाचार्य, जिनका भक्तिमार्ग दक्षिण ही के एक अन्य पूर्ववर्त्ती आचार्य विष्णु-स्वामी के विचारों का विकसित रूप था। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में वल्लभ का मत शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त निम्बार्क नामक आचार्य भी दक्षिण ही में हुए थे, जिनके द्वारा प्रवर्त्तित मत सनकादि सम्प्रदाय के नाम से मशहूर हुआ। इन सभी सम्प्रदायों के दार्शनिक मतों में यद्यपि भेद है, फिर भी इस बात में इन सबका एक मत है कि शंकर का 'अद्वैतवाद' उन्हें स्वीकृत नहीं। वस्तुतः इन सबका जन्म शंकर के मत के विरुद्ध प्रतिक्रिया के ही फलस्वरूप हुआ था। शंकर के मत में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन होने के कारण सगुण ईश्वर की भक्ति अथवा अवतारवाद की धारणा के लिए कोई गुंजाइश न रह गई थी, अतएव प्राचीन भागवत धर्म के अनुयायी वैष्णवों के लिए इस अद्वैतवाद के विरुद्ध, जिसे उन्होंने 'मायावाद' के नाम से पुकारना शुरू किया था, आंदोलन मचाना और अपने

मत विशेष की पुष्टि के लिए नवीन दार्शनिक भूमिका तैयार करना आवश्यक हो गया। एक बात और थी। शंकर की अद्वैतवादी विचारधारा सामान्य जन-मस्तिष्क द्वारा ग्राह्य न थी—वह वस्तुतः ज्ञानियों की वस्तु थी। साधारण नर-नारी तो अब भी उस ईश्वर को टटोलते थे, जो उन पर दया करता, आपद के समय आकर उनकी रक्षा करता, तथा जिसके चरणों में अपने आपको डालकर वे अपने दुःख-दैन्य से छुटकारा पा लेते। जन-साधारण की इस भावना ने ही ज्ञान के बजाय भक्तिप्रधान धर्म की माँग प्रबल की। इस माँग की पूर्त्ति करने के लिए ही रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद को प्राचीन भागवत धर्म के साथ संयुक्त कर विशिष्टाद्वैत नामक उस दार्शनिक धारा को जन्म दिया, जिसमें जीवात्मा, जगत् और ब्रह्म मूलतः तो एक ही रहे, किन्तु कार्यरूप में एक दूसरे से भिन्न तथा विशिष्ट गुणों से युक्त माने जाने लगे। रामानुज ने ज्ञान और कर्म दोनों को भक्ति का ही उपादान बताया और इस बात पर ज़ोर दिया कि ईश्वर से साक्षात्कार करने का सबसे उपयुक्त मार्ग भक्ति ही है।

रामानुज दक्षिण के नाम्मालवार आदि बारह आलवार वैष्णव भक्तों और नाथमुनि, यामुनाचार्य्य आदि आचार्यों की सुप्रसिद्ध परम्परा में पैदा हुए थे। अतएव यह कहना सही नहीं है कि रामानुज ही दक्षिण में वैष्णवधर्म की भक्तिधारा के आदि प्रवर्त्तक थे—वस्तुतः उनके विशिष्टाद्वैत-संबंधी विचारों की भी नींव उनके पहले यामुनाचार्य्य द्वारा पड़ चुकी थी। इन्हीं यामुनाचार्य्य की एक प्रपौत्री से रामानुज का जन्म हुआ था और उन्हीं की परंपरा में आगे चलकर वह श्रीरंगम् में प्रस्थापित आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। रामानुज का महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मत के लिए एक सुनिश्चित दार्शनिक भित्ति तैयार कर दी। शंकर की भाँति उन्होंने भी अपने दृष्टिकोण के समर्थन के लिए वेदान्त-सूत्रों और गीता पर महत्त्वपूर्ण भाष्य एवं टीका लिखी। उनका यह भाष्य 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रख्यात है। इसके अतिरिक्त नाम्मालवारकृत प्रसिद्ध 'तिरुवोई-मोली' नामक ग्रंथ पर एक प्रामाणिक टीका तैयार कराने का भी श्रेय रामानुज को ही है। किंतु उन्हें सबसे अधिक आदर तो इस बात के लिए मिलना चाहिए कि उन्होंने जाति-पाँति के ऊँच-नीच संबंधी विचारों द्वारा शासित दक्षिण में निम्न श्रेणी के लोगों को भी वैष्णव संप्रदाय में सम्मिलित होने का अधिकार दिला दिया। रामानुज की यह उदार भावना आगे चलकर उनकी शिष्य-परंपरा के सुप्रसिद्ध स्वामी रामानन्द के नेतृत्व में उत्तरी भारत में विशेष रूप से पुष्पित और पल्लवित हुई, जिसका विवरण आप आगे के कुछ प्रकरणों में पढ़ेंगे।

रामानुज का जन्म १०१७ ई० में हुआ था और मृत्यु ११३७ ई० में। इस प्रकार वह लगभग सवा सौ वर्ष तक जीवित रहे। इस सुदीर्घ जीवनकाल का अधिकांश भाग उन्होंने दक्षिण में वैष्णव धर्म की स्थिति सबल बनाने ही में व्यतीत किया। उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं में बहुत कम ऐसी हैं, जिनके बतलाने की यहाँ आवश्यकता प्रतीत हो। बचपन ही में पिता की मृत्यु हो जाने के बाद यादवप्रकाश नामक एक वेदान्ती से उन्होंने आरंभिक शिक्षा ग्रहण की थी। तदुपरान्त यामुनाचार्य्य या आलवन्दार के शिष्य पेरियानाम्बी को गुरु बनाकर उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और इसी के कुछ दिन बाद गृहजीवन से असंतुष्ट होकर संन्यास ग्रहण कर लिया। इन्हीं दिनों यामुनाचार्य्य की गद्दी पर वह श्रीरंगम् में आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हो गए और वहीं उन्होंने अपने वेदांतसार, वेदांतदीप, वेदार्थसंग्रह, तथा श्रीभाष्य आदि मुख्य-मुख्य रचनाएँ लिखीं। कहते हैं, अपने भाष्य को विद्वानों द्वारा स्वीकृत कराने के लिए वह तत्कालीन प्रमुख विद्या-केन्द्र काश्मीर को भी गए थे। रामानुज के जीवन की एक उल्लेखनीय बात तत्कालीन शैव चोल राजा द्वारा उनके दमन की वह घटना है, जिसके कारण उन्हें श्रीरंगम् से भागकर कावेरी के तट पर शालिग्राम नामक स्थान में १२ वर्ष तक रहना पड़ा था। कहते हैं, इस निर्वासन की दशा ही में मेलूकोट के सुप्रसिद्ध मंदिर को खुदवाकर तथा उसमें मूर्ति प्रतिष्ठित कर पंचम या अंत्यज जाति के लोगों के भी उसमें प्रवेश की योजना उन्होंने की थी। जब ऊपर उल्लिखित चोल राजा की मृत्यु हो गई, तब रामानुज पुनः श्रीरंगम् आ गए थे, जहाँ मृत्यु-पर्यन्त रहकर वह वैष्णव मत का प्रचार करते रहे।

मध्व

शंकर के अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में मध्ययुग के उत्तरकाल में जो विविध दार्शनिक और धार्मिक विचार-धाराएँ उच्छ्वसित हुईं, उनमें मध्व द्वारा प्रवर्तित द्वैतवाद का एक विशिष्ट स्थान है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि ने जहाँ शंकर के 'मायावाद' का विरोध किया, वहाँ साथ ही साथ 'विशिष्टाद्वैत', 'द्वैताद्वैत' और 'शुद्धाद्वैत' नामक अपने मतवादों में परोक्ष रूप से वे अद्वैत की धारणा के साथ समझौता करने का भी प्रयास करते दिखाई दिए। इसके विपरीत मध्व के विशुद्ध 'द्वैतवाद' में ब्रह्म, जीव और जगत् की एकता की धारणा के लिए कोई गुंजाइश ही शेष नहीं रह गई—उनकी दृष्टि में तो एक ओर स्वतंत्र अद्वितीय चेतन ब्रह्म और दूसरी ओर अस्वतंत्र जड़ प्रकृति या परतंत्र जीव इन दोनों की ही सत्ता यथार्थ थी, उनका भेद नित्य था, अनित्य नहीं। इस प्रकार मध्व को हम शंकर के सबसे प्रबल प्रतिपक्षी के रूप में सामने आते देखते हैं। यद्यपि लोक की जीवनधारा पर उनका उतना व्यापक प्रभाव न पड़ सका जितना शंकर या रामानुज का, फिर भी उनके मतवाद ने भारतीय दर्शन में अपने लिए एक आदरणीय स्थान अवश्य बना लिया। वस्तुतः मध्व का महत्त्व एक धार्मिक संप्रदाय विशेष के प्रस्थापक के रूप में उतना नहीं है, जितना एक उच्च कोटि के दार्शनिक के रूप में है। शंकर, रामानुज, वल्लभ या निम्बार्क की भाँति वह भी याज्ञवल्क्य, कपिल, गौतम, कणाद, पतंजलि, बादरायण आदि की ही परंपरा के एक तत्त्ववेत्ता थे। यदि अपने युग के अन्य आचार्यों से उनका मतभेद रहा तो क्या, वह सत्य के एक सच्चे अन्वेषक थे इसमें तो किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। निश्चय ही उनका स्थान उन महामनीषियों में है जिन्होंने इस देश की संस्कृति की दीपशिखा को अपनी ज्ञान-साधना द्वारा समय-समय पर नूतन तेज दिया और इस प्रकार जो असमय ही मंद पड़ जाने से उसे बचाते रहे।

जैसा कि पिछले एक प्रकरण में हम सूचित कर चुके हैं, शंकर, रामानुज, वल्लभ और निम्बार्क की भाँति मध्व भी दक्षिण भारत की ही उपज थे। वह आधुनिक मद्रास प्रान्त के पश्चिमी भाग के उडीपी नामक स्थान के समीप के एक गाँव में पैदा हुए थे। उनके जन्म-संवत् के बारे में विद्वानों में मतभेद है—कोई १११८ ई० या ११९९ ई० में उनका जन्म होना मानता है तो कोई १२३८ ई० के ही पक्ष मे युक्तियाँ प्रस्तुत करता है। किन्तु इस बात में प्रायः सभी सहमत हैं कि वह रामानुज के बाद हुए थे। उनके बाल्यकाल के संबंध में जो अनेक चमत्कारपूर्ण प्रवाद प्रचलित हैं, उनसे ज्ञात होता है कि अल्पायु ही मे उनकी प्रतिभा का प्रकाश प्रकट होने लग गया था। कहते हैं, न केवल उनकी बुद्धि ही तीक्ष्ण थी, प्रत्युत् शरीर से भी वह हट्टे-कट्टे थे। उनका बचपन का नाम वासुदेव था, किन्तु बाद में हम उनका उल्लेख आनंदतीर्थ या पूर्णप्रज्ञ के नाम से ही पाते हैं। ये दोनों नाम उन्हें संन्यास लेने के बाद क्रमशः

दिए गए थे। कहा जाता है कि पच्चीस वर्ष की आयु में ही विरक्त हो उदीपी के अच्युतप्रेक्ष नामक एक वेदान्ताचार्य से उन्होंने दीक्षा ले ली थी। अच्युतप्रेक्ष शंकराचार्य्य के अद्वैतवादी वेदान्त के शिक्षक थे। वह स्तब्ध रह गए, जब उनके इस नवागत तेजस्वी शिष्य ने अद्वैत मत के प्रति अपना असंतोष प्रकट कर उसकी ज़ोरों से आलोचना करना तथा श्रुतियों के वचनों का एक निराला ही अर्थ लगाना शुरू किया। कुछ ही समय में पूर्णप्रज्ञ की ख्याति आसपास दूर-दूर तक फैल गई और उनके पांडित्य से प्रभावित हो गुरु ने उन्हें अपने मठ में सर्वोपरि पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। यहीं से उनके जीवन मे मानों एक नवीन अध्याय का आरंभ हुआ—पूर्णप्रज्ञ से अब वह आनन्दतीर्थ बन गए और अधिकांश समय गहन चिन्तन, मनन और अध्ययन आदि ही में बिताने लगे। इसी बीच एक बार गुरू के दल के साथ वह दक्षिण के प्रमुख तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए निकल पड़े। इस यात्रा में शांकर मत के पृष्ठपोषको के साथ उनकी गहरी टक्कर हुई—त्रिवेन्द्रम् नामक स्थान में तो स्वयं शृंगेरी-मठ के तत्कालीन आचार्य के साथ ही उनकी मुठभेड़ हो गई, जिसके फलस्वरूप अद्वैतवाद और उनके अपने सिद्धान्तों के बीच की खाई और भी गहरी हो चली। इस घटनापूर्ण यात्रा से लौटने पर आनन्दतीर्थ (मध्व) ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा, जिसमें उनकी द्वैतवादी विचारधारा पहले-पहल लेखबद्ध रूप में सबके सामने आई। इसके बाद, संभवतः, उदीपी ही में उन्होंने वेदान्त-सूत्रों के भाष्य के निर्माण में भी हाथ लगाया, किन्तु उस महत्त्वपूर्ण कृति का प्रकाशन उन्होंने अपनी उत्तर भारत की यात्रा में काशी पहुँचने पर किया। कहते हैं, हरद्वार पहुँचकर वह कई दिनों तक मौन धारण कर बिना कुछ खाए-पिए विचार में मग्न रहे और तब अपने साथियों को वहीं छोड़ अकेले ही हिमालय में स्थित बद्रिकाश्रम को चल दिए। वहाँ से लौटते ही उन्होंने निर्भयतापूर्वक अपने द्वैतवादी मतवाद की घोषणा कर स्थान-स्थान में वैष्णव-धर्म का प्रचार आरंभ कर दिया। वह वापस दक्षिण पहुँचे तब तक उनके आसपास अनुयायियों की एक काफ़ी बड़ी टोली जुट गई थी। उदीपी में लौटने पर मध्व ने सबसे पहले अपने गुरु अच्युतप्रेक्ष ही को अपने नवीन मत में दीक्षित किया। तदनन्तर उन्होंने वहाँ कृष्ण का एक मंदिर स्थापित किया, जो उनके अनुयायियों के लिए कालान्तर में एक तीर्थ बन गया। इस प्रकार उनके प्रभाव को बढ़ते देख शृंगेरी-मठ के अधिकारियों ने उनका और उनके मत का दमन करने की बड़ी कोशिशें की। कहते हैं, धावा बोलकर वे किसी प्रकार मध्व के समस्त ग्रंथ उठा ले गए, जो इन्हें तत्कालीन चालुक्यराज की सहायता से बड़ी कठिनाई के बाद पुनः वापस मिल सके। इस लागडाँट के फलस्वरूप मध्व का प्रभाव अधिक नहीं फैल सका। फिर भी उनके प्रयत्न से वैष्णव भक्ति-आंदोलन को काफी वेग मिला। मध्व की मृत्यु ७९ वर्ष की आयु में हुई। कहते हैं, एक दिन सागर-स्नान के लिए वह गए थे और वहाँ से फिर वापस न लौटे!

मध्व की कृतियों में ब्रह्मसूत्र और गीता के भाष्य का तो उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है, इसके अतिरिक्त उपनिषदों पर भी उनके महत्त्वपूर्ण भाष्य मिलते हैं। उनका संप्रदाय 'ब्राह्म संप्रदाय' के नाम से प्रख्यात है। जैसा कि पिछली पंक्तियों में कहा जा चुका है, मध्व विशुद्ध द्वैतवाद के प्रतिपोषक थे, अतएव उनके मतानुसार ब्रह्म, जगत् और जीव तीनों की ही सत्ता यथार्थ है। अंतर यही है कि जहाँ ब्रह्म को वह स्वतंत्र मानते हैं, वहाँ जगत् और जीव उनके मत में परतंत्र हैं। मध्व ने पाँच भेद बताए हैं, जिन पर उनके दार्शनिक मत की भित्ति प्रस्थापित है। ये हैं—ब्रह्म और जीव का भेद, ब्रह्म और जड़ प्रकृति का भेद, जीव और जड़ प्रकृति का भेद, एक जीव का दूसरे जीव से भेद, तथा एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। अपने इस भेदमूलक दार्शनिक मत के आयोजन में उन्होंने प्राचीन सांख्य और न्याय-वैशेषिक मतों का बड़ी चतुराई के साथ प्रयोग किया है। वस्तुतः मध्व से भी पहले द्वैतवाद की एक प्रबल प्राचीन परंपरा भारतीय दर्शन के क्षेत्र में विद्यमान थी, जिसके सूत्र श्रुतियों तक में मिलते हैं। इसीलिए यह मतवाद आस्तिक हिन्दुओं द्वारा मान्य हुआ। मध्व का धार्मिक मत बहुत अंशों में रामानुज से मिलता है। दोनों के ही मतानुसार विष्णु या नारायण ही एकमात्र परब्रह्म और सर्वनियन्ता देवाधिदेव हैं।

वल्लभ

रामानुज, निम्बार्क और मध्व के नेतृत्व में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी ईस्वी में दक्षिण में एकबारगी ही भक्ति की जो लहर उमड़ पड़ी थी, दो सौ वर्ष बाद वल्लभ, रामानन्द और चैतन्य की अधिनायकता में वही एक प्रबल ज्वार का रूप ले उत्तर भारत के इस छोर से उस छोर तक छा गई। रामानन्द और चैतन्य के संबंध में आगे चलकर हम अलग से विस्तृत हाल आपको सुनाएँगे; आइए, इस प्रकरण में पहले उस युग की तीसरी विभूति आचार्य वल्लभ के ही जीवन की एक झाँकी देखने का प्रयास करें, जो न केवल भक्ति-आन्दोलन के प्रत्युत् मध्यकालीन भारतीय दर्शन के भी एक प्रधान स्तंभ थे।

वल्लभाचार्य थे तो दक्षिण के ही एक रत्न, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र उत्तर भारत में ही स्थापित होनेवाला था, संभवतः इसीलिए विधाता ने उन्हें काशी के समीप लाकर जन्म दिया था। कहते हैं, वह एक तैलंग ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट दक्षिण से उठकर कभी उत्तर में आ बसे थे। वह तेरहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित रुद्र-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। एक बार काशी में मुसलमानों और संन्यासियों में आपस में दंगा होने के कारण लक्ष्मण भट्ट को वहाँ से सपरिवार भागना पड़ा। उसी अवसर पर राह में चंपारण्य नामक एक जंगली स्थान में उनके पुत्र वल्लभ का १४७२ ई० में जन्म हुआ। कोई-कोई कहते हैं कि भट्ट को यह बालक वहीं जंगल में अकेले पड़ा मिला था। जो कुछ भी हो, जब दंगा शांत हुआ तब भट्ट पुनः काशी आए और वहीं टिककर वल्लभ का पालन-पोषण करने लगे। छः वर्ष की आयु में उन्होंने उसे शिक्षा के लिए नारायण भट्ट नामक एक पंडित के सिपुर्द कर दिया। किन्तु वल्लभ अभी ग्यारह वर्ष ही के थे कि लक्ष्मण भट्ट इस संसार से चल बसे। इसके बाद किस तरह उनकी शिक्षा-दीक्षा का क्रम जारी रहा हमें नहीं मालूम—केवल यही सूचना मिलती है कि युवावस्था में पदार्पण करने के समय तक वह वेदों और शास्त्रों में पूर्णतया पारंगत हो चुके थे। उनके मस्तिष्क पर पिता के रुद्र-संप्रदायवादी विचारों की छाप तो पहले से जमी हुई थी ही, इधर संभवतः निम्बार्क-प्रणीत राधा-कृष्ण की उपासना-संबंधी भक्ति-धारा का भी उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वैष्णव होने के कारण 'मायावाद' तो उन्हें पहले ही से अखर रहा था, किन्तु साथ ही माध्व द्वैतवाद या रामानुजीय विशिष्टाद्वैत की धारणा के साथ भी एकदम समझौता कर लेने को वह तैयार न थे। अतएव इन सबको अलग रखकर उन्होंने अपने मतवाद के लिए एक बिल्कुल ही नई दार्शनिक भित्ति तैयार करने का निश्चय किया। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि जहाँ शंकर, रामानुज और मध्व ने उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र, इन तीन आर्ष कृतियों को ही (जिन्हें भारतीय दर्शन के क्षेत्र में 'प्रस्थानत्रयी' का नाम दिया गया है) अपना आधार बनाया था, वहाँ

वल्लभ ने इनके अतिरिक्त भागवत् महापुराण को भी अपना एक मुख्य प्रमाणभूत आधार माना। इन्हीं चारों कृतियों की भित्ति पर उन्होंने क्रमशः 'शुद्धाद्वैत' नामक उस सुप्रसिद्ध दार्शनिक विचारधारा का विकास किया, जिसके अनुसार उपनिषदों में बखानी गई ब्रह्म की अद्वैत सत्ता तो निर्विवाद स्वीकार कर ली गई, किन्तु शंकर का यह मत कि एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार्य है शेष सब-कुछ माया है, बिल्कुल उलट दिया गया। वल्लभ द्वारा प्रणीत ग्रंथों में सबसे प्रसिद्ध तीन हैं—वेदान्तसूत्रों का 'अणुभाष्य', श्रीमद्भागवत की 'सुबोधिनी' टीका, और 'तत्त्व-दीप निबंध'। ये सब ग्रंथ संस्कृत में हैं और उनके दार्शनिक मतवाद के प्रधान आधारस्तंभ कहे जा सकते हैं। वल्लभ ने घोषणा की कि ब्रह्म की अद्वैतता तो माया की कल्पना के बिना भी सिद्ध है। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्म अपने 'कारण' और 'कार्य' इन दोनों ही रूपों में सत्य और एक है—वह 'विशुद्ध' है, माया के ऊपर वह बसर नहीं करता। यह सारा दृश्य जगत् उस ब्रह्म ही की तो आत्म-कृति है! जीवों में भी तो लीला के हेतु अंश-रूप में सिवा उसके कौन प्रकट हुआ है? इस प्रकार शंकर ने जहाँ ब्रह्म के निरुपाधि निर्विशेष रूप को ही उसका यथार्थ रूप बताया था और सगुण को उसका मायिक रूप कहा था, वहाँ वल्लभ ने उसके सगुण रूप को ही यथार्थ और वास्तविक माना। उस परम चेतन को वल्लभ ने सत्-चित्-आनन्दमय पूर्ण पुरुषोत्तम या श्रीकृष्ण के नाम से अभिहित किया और उसकी लीला में प्रवेश करना ही जीव के लिए उन्होंने सर्वोत्तम गति मानी। उस गति की प्राप्ति के लिए जिस उपासना-पद्धति का उन्होंने विधान किया, वही 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है।

उपरोक्त सिद्धान्तों की जब एक स्पष्ट रूपरेखा निखर आई तब अपने पूर्वगामी आचार्यों की तरह वल्लभ उनके प्रचार के लिए देश की एक लंबी यात्रा पर निकल पड़े। अपने उपास्यदेव श्रीकृष्ण के धाम गोकुल और वृंदावन होते हुए वह दक्षिण भारत में पहुँचे, जहाँ विजयनगर के राजदरबार में शैव संप्रदायवालों के साथ उनका बड़ा ज़ोरों का शास्त्रार्थ हुआ। इसमें विजयी होने पर वैष्णवों ने उन्हें अपना आचार्य मान लिया। इस प्रकार पूरे नौ वर्ष तक पर्यटन करते हुए वह भक्ति का प्रचार करते रहे। वल्लभ ने ज्ञान के बदले भक्ति के सरल सरस मार्ग को ही अपनाने के लिए लोक का आह्वान किया था, इसलिए उन्हें जनता को अपने साथ भक्ति की धारा में बहा ले चलने में कठिनाई न हुई। यात्रा से लौटकर जब वह पुनः गोकुल आए तब वहीं व्रजभूमि में उन्होंने अपने पुष्टि-मार्ग की प्रधान 'गद्दी' प्रस्थापित की। किन्तु उन्होंने जो उपासना-पद्धति चलाई थी, उसमें विधि या अनुष्ठान की प्रधानता के अतिरिक्त एक कमज़ोरी यह थी कि उनके संप्रदाय में गद्दी के उत्तराधिकारी गुरु की भी तन-मन-धन से पूजा का विधान था, जिसका आगे चलकर बहुत ही अनिष्टकर परिणाम हुआ। वल्लभ के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ आचार्य बने। वह एक योग्य पुरुष थे—उन्होंने ही वल्लभाचार्य्य के भक्ति-मार्ग का गुजरात, मालवा आदि में प्रचार किया और अपने पिता के ग्रंथों का संपादन भी किया। किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनके सात पुत्रों ने नाथद्वारा आदि स्थानों में जो सात गद्दियाँ स्थापित कीं, उनके कई गुसाईं, जो अब 'महाराज' कहलाने लगे थे, महान् दुराचारी हुए। इन गद्दियों से संलग्न मंदिर क्रमशः भोजनभट्ट पेटू लोगों के विलासस्थान बन गए और उपासना की आड़ में वहाँ कुत्सित व्यापार भी चलने लगा। श्री वल्लभाचार्य स्वयं एक उत्कृष्ट चरित्रवान् भक्त महापुरुष थे, अतएव उनके उत्तराधिकारियों के इस पतन का दोष उन पर नहीं मढ़ा जा सकता। वस्तुतः बुद्ध जैसी विभूति पाकर भी बौद्ध धर्म का अंतिम दिनों में जो बुरा हाल हुआ था, वही हाल वल्लभ के इस भक्ति-संप्रदाय का भी हुआ। इसका कारण यही था कि वल्लभ के ये अनुयायी अपने महान् आचार्य के परम लक्ष्य का भान भूल गए थे। यदि संतोष की कोई बात थी तो यही कि जहाँ एक ओर पुष्टि-मार्ग की विकृति के रूप में ये विलासप्रेमी गुसाईं पैदा हुए वहाँ दूसरी ओर उसके सुफल के रूप में सूरदास जैसे भक्त महाकवि भी इसी संप्रदाय में उपजे। हमें चाहिए कि वल्लभ के व्यक्तित्व की परख करते समय उनकी निजी महानता ही को सामने रक्खें, उनके वंशजों के चरित्र के पैमाने पर उन्हें न नापें-तौलें।

अपराध था कि देश की चारों सीमाओं को नापकर लोक के निकट संस्पर्श में आने तथा जाति-पाँति के भेदभाव की अवहेलना कर सबको समान भाव से हरि-भक्ति का संदेश सुनाने के लिए वह अग्रसर हुआ था, तब तो उसके पूर्वगामी रामानुज आदि उससे कहीं अधिक दण्ड के पात्र थे, जिनकी सारी आयु हीं इसी तरह के प्रयास में बीती थी ! वह झुँझला उठा अपने सहयोगियों की नासमझी पर, और अन्याय के रंग में रँगी हुई उनकी मनमानी पर उसे क्रोध भी आया। उसके अंतस्तल में क्रान्ति की लौ तो भीतर ही भीतर पहले ही सुलग रही थी, अब मानों लपट का रूप ले एकबारगी ही वह बाहर भी भभक उठी। वह पुरातन वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा का विरोधी न था। न समाज के हाथों से अनुशासन का अधिकार ही छीन लेना वह चाहता था। किन्तु वह पूछता था कि आखिर उपासना के क्षेत्र में भी ये बंधन और विधान क्यों ? जहाँ भगवान् की विशुद्ध भक्ति का ही सवाल सामने हो वहाँ भला इन भेदभाव के नियमों का क्या काम ? उस परम पिता हरि के आँगन में तो क्या छोटे और क्या बड़े, क्या ब्राह्मण और क्या शूद्र, क्या गृहस्थ और क्या संन्यासी, सभी का समान अधिकार, समान धर्म और समान ही विधान होना चाहिए। फिर इस हास्यास्पद सांसारिक वर्ग-भेद को वहाँ लागू करने का क्या अर्थ ? उसने प्रायश्चित्त का दण्ड अंगीकार करने से साफ इन्कार कर दिया ! उन दिनों श्रीसंप्रदाय

रामानन्द

और अन्य मध्यकालीन संत

लगभग छः सौ वर्ष हुए, काशी के रामानुजीय श्रीसंप्रदाय का सदस्य एक युवा संन्यासी दीर्घ काल तक देश का भ्रमण करने के बाद जब पुनः एक दिन अपने धाम को वापस लौटा तो उसे एक अजीब परिस्थिति का सामना करना पड़ा। उसने देखा कि उसका संप्रदाय उसके प्रति अपने द्वार बंद किए बैठा है—यदि कोई मार्ग प्रवेश के लिए खुला रक्खा गया है तो वह है प्रायश्चित्त का कटु मार्ग ही ! सरलहृदय युवक समझ न सका, आखिर किस अपराध के लिए उसे यह दण्ड दिया गया था—वह तय नहीं कर पाया कि यदि प्रायश्चित्त भी वह करता तो किस बात का ! यदि यही उसका एकमात्र

के आचार्य्य राघवानन्द नामक एक महापुरुष थे, जिन्होंने रामानुज के बाद वैष्णव भक्ति-मार्ग का देश में प्रचार करने में विशेष रूप से भाग लिया था। पिछले दिनों वह दक्षिण भारत से उठकर उत्तर में काशीधाम में आ बसे थे और उन्होंने ही स्वयं अपने हाथों से इस युवा संन्यासी को दीक्षा दे श्रीसंप्रदाय में सम्मिलित किया था। वह उसकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे और चाहते थे कि उनके बाद संप्रदाय की गद्दी

पर यही युवक प्रतिष्ठित हो। वस्तुतः इससे अधिक योग्य और तेजस्वी व्यक्ति उन्हें सारे संप्रदाय में दूसरा न दिखाई पड़ता था। जब उन्होंने अपने इस प्रतिभाशाली शिष्य को हाथ से निकल जाते देखा तो वह बड़े चिंतित हुए। अपने भरसक उन्होंने उसे समझाने का प्रयत्न किया। किन्तु वह अपनी टेक से टस से मस न हुआ। वस्तुतः इतने बड़े संप्रदाय के आचार्य्यपद का प्रलोभन तो क्या, सारी दुनिया का वैभव भी उसे अपनी स्वाधीन चिन्ता के मार्ग से विचलित न कर सकता था! वह चल दिया तुरन्त सब-कुछ छोड़कर, और एक कमण्डलु ले एकाकी ही गंगा-तट पर उसने अपना आसन जा जमाया। तब कट्टरपंथियों की उस राजधानी काशी ही के पंचगंगा-घाट की एक सामान्य-सी कुटिया से निम्न युगान्तरकारी घोषणा के स्वर एक दिन उस विद्रोही संन्यासी के मुख से उद्घोषित होते सुनाई दिए और उसके इस महामंत्र को अपना नारा बनाकर देश का सारा कुचला हुआ जनप्रवाह इस प्रकार उसके पीछे हो लिया मानों उसके रूप में लोक को एक चिरप्रतीक्षित नेता मिल गया हो:—

"जाति-पाँति पूछै नहिं कोई।

हरि को भजै सो हरि का होई॥"

बात कहने-सुनने में यों बहुत सीधी-सादी लगती थी, किन्तु जब उसके आघोष का भैरव रव लोक के अंतस्तल में पहुँचकर गंभीर नाद के साथ प्रतिध्वनित हुआ तो एक ऐसे विराट् जन-आन्दोलन का प्रबल ज्वार इस देश में उमड़ता दिखाई दिया, जिसकी समता की सांस्कृतिक हलचल इससे पहले हमें अपने इतिहास में केवल दो या तीन बार ही और देखने को मिल सकी थी। सबसे उल्लेखनीय बात तो यह थी कि इस आन्दोलन की धुरी समाज के निम्नतर कुचले हुए स्तरों पर ही प्रस्थापित थी—उन्हीं से इसे विशेषतर अपना बल मिला था। वस्तुतः उपरोक्त घोषणा के बहुत पहले ही से समाज की तह में असंतोष की एक लहर जन्म पा चुकी थी। उस लहर में प्रत्यक्ष जीवन से दूर हटते जा रहे तत्कालीन धर्म और पांडित्य के प्रति ऊबी हुई जनता की प्रतिक्रिया तो काम कर ही रही थी, साथ ही एक युगव्यापी अतृप्त धर्मपिपासा, वर्णभेद द्वारा जर्जरीभूत समाज-व्यवस्था के प्रति दिन पर दिन ज़ोर पकड़ते जा रहे विद्रोह और इन सबसे कहीं अधिक नवागत इस्लाम की राजनीतिक विजय के कारण हतप्रभ राष्ट्र के अंतराल में उत्पन्न हुई एक देशव्यापी निराश वेदना की भावना भी अंतर्हित थी। इस प्रतिक्रिया को और भी बल मिला जब एक ओर सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों जैसे अक्खड़ों की अटपटी वाणी के स्वर सुनाई पड़ने लगे, तथा दूसरी ओर इस्लाम के सूफ़ी मतवादियों के मस्ताने तराने भी जनहृदय का ध्यान बरबस अपनी ओर खींचने लगे। इस प्रकार भीतर ही भीतर एक नए वातावरण के सृजन की तैयारी तो बहुत पहले ही से हो चुकी थी—केवल प्रतीक्षा थी उपयुक्त समय पर नेतृत्व की बागडोर सँभाल लेनेवाले एक योग्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व की। लोगों ने देखा कि वह व्यक्तित्व भी अब उनके सामने इस युवा संन्यासी के रूप में आ उपस्थित हुआ था—अपने मनोनीत लोकनायक के सभी लक्षण उन्हें उसके जादूभरे व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होते दिखाई दिए। बस फिर क्या पूछना था! देखते ही देखते सारा उत्तरी भारत उसके साथ एक विशद धार्मिक क्रान्ति के पथ की ओर बढ़ चला। कबीर और नानक आए। रैदास और दादू की वाणी सुनाई पड़ी। सबकी एक ही यह आवाज़ थी कि मनुष्य की महत्ता का पैमाना ऊँची कहलानेवाली जातियों में जन्म लेना नहीं, प्रत्युत् ईश्वर के प्रति लगन या भक्ति ही है। इस आवाज़ की ठेस से युग-युग से सुपुप्त समाज के निम्नतर दलित स्तर भी सस्वर हो उठे। वे अपनी व्यथा भूल-से गए और कालान्तर में उनके हृदयतल से ऐसे मार्मिक और उच्च तत्त्वसूचक ज्ञान-भक्तिमिश्रित स्वर फूट निकले कि बड़े-बड़े दार्शनिक तक चौंक पड़े! क्या आश्चर्य यदि सबने परोक्ष अथवा अपरोक्ष भाव से उस युगप्रवर्त्तक संन्यासी को ही अपना आचार्य माना, जिसने पहले-पहल उन्हें जगाकर इस महान् आन्दोलन को वेग दिया था!

यद्यपि एक विशिष्ट संप्रदाय के साथ उसका नाम संश्लिष्ट हो जाने के कारण आज उस महापुरुष की व्यापक महत्ता हमारी आँखों से बहुत-कुछ ओझल

हो गई है, किन्तु इस देश की विशद आत्मकथा के पृष्ठों पर उसकी जो अमर छाप अंकित है उसे कौन मिटा सकता है ? जिस प्रकार मध्ययुग का पूर्वार्द्ध-काल उस युग को अन्यतम विभूति शंकर के नाम से 'शांकर युग' कहकर अभिहित किया जा सकता है, उसी तरह उसका उत्तरार्द्ध इस दूसरे युगप्रवर्त्तक संन्यासी के नाम से 'रामानन्द-युग' कहकर पुकारा जाना चाहिए। शंकर का युग आचार्य्यों का युग था, जिन्होंने पुनरुज्जीवित भारतीय धर्म को एक सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति प्रदान कर इस देश की चिन्तन-प्रवृत्ति को फिर से जगा दिया था। रामानन्द का युग था सन्तों का युग, जो धर्म की मन्दाकिनी को ज्ञान और पाण्डित्य के दुर्गम हिमशिखर से भक्ति की हरी-भरी उपत्यका में ले आए और इस प्रकार जिन्होंने उसे लोकहितकारी गंगा की भाँति एक मंगलमयी स्रोतस्विनी में परिणत कर दिया। इस संतपरम्परा के युगल मुकुट-मणि के रूप मे प्रकट हुए कबीर और तुलसीदास, जो उस युग की दो प्रमुख धाराओं—निर्गुण और सगुण उपासना—के सबसे महान् प्रतिपादक थे। यह एक उल्लेखनीय बात है कि इन दोनों ने अपने को रामानन्द के पद-चिह्नों का ही अनुगामी माना ! इस प्रकार मध्ययुग के उत्तरकाल की समग्र भारतीय चिन्ता के प्रेरक एक दृष्टि से रामानन्द ही थे। प्रसिद्ध ही है कि भक्ति उपजी तो दक्षिण के द्रविड़ देश में, किन्तु वह पुष्पित और पल्लवित हुई उत्तर मे आकर—उसे विन्ध्यमेखला के इस पार ले आकर गंगा-यमुना के उपजाऊ मैदानों में रोपने का श्रेय रामानन्द को ही है।*

यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि जहाँ शंकर आदि आचार्य्य मुख्यतः दक्षिण की ही उपज थे, वहाँ इस युग के अधिकतर संत उत्तर भारत में ही पैदा हुए। कबीर ने काशी मे जन्म लिया था, नानक ने पंजाब में। रैदास, दादू, पलटू, मलूक आदि भी नर्मदा के इस पार की ही उपज थे। श्री रामानन्द का जन्मस्थान भी उत्तरी भारत ही में बताया जाता है। कहते हैं, वह प्रयाग के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनका बचपन का नाम रामदत्त था। बारह वर्ष की आयु में वह शिक्षा के लिए काशी पहुँचे और वहाँ एक अद्वैतवादी स्मार्त्त शिक्षक के पास टिककर दर्शन का अध्ययन करने लगे। इन्हीं दिनों उनकी भेंट श्री-संप्रदाय के आचार्य्य राघवानंद से हो गई, जिन्होंने वैष्णव मत में दीक्षित कर उन्हें अपना अनुयायी बना लिया। तभी से इनका नाम रामानन्द प्रख्यात हुआ। बहुत दिन तक गुरू की सेवा में रहकर रामानन्द एक बहुत लंबी भारत-यात्रा पर निकल पड़े। उससे वापस लौटने पर प्रायश्चित्त के प्रश्न पर गुरू से उनका जो मतभेद और विवाद उठ खड़ा हुआ, उसकी झलक पूर्वपंक्तियों में आपको मिल ही चुकी है। रामानन्द ने श्रीसंप्रदाय से पृथक होकर अपना एक स्वतंत्र संप्रदाय स्थापित किया, जिसका नाम 'रामावत' संप्रदाय पड़ गया। किन्तु उनका महत्त्व एक पृथक् संप्रदाय के प्रवर्त्तक के रूप में उतना नहीं है जितना उस क्रान्ति के कारण है जो उन्होंने तत्कालीन भारतीय धर्म के क्षेत्र में प्रस्तुत कर दी थी। इस क्रान्ति का सूत्र था उपासना के क्षेत्र में सामाजिक समानता की भावना का सन्निवेश। रामानंद के मत की दार्शनिक भित्ति रामानुज के ही मत के अनुरूप थी, किन्तु उनकी नैतिक विचारधारा पूर्ववर्त्ती आचार्य्यों से कहीं अधिक उदारता लिये हुए थी। वह भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति के खान-पान संबंधी बंधन को स्वीकार नहीं करते थे; दूसरे, इस क्षेत्र का द्वार वह शूद्र-ब्राह्मण सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ मानते थे। स्वयं रामानन्द के जो बारह प्रधान शिष्य प्रख्यात हैं उनमे से कई तथाकथित नीच जातियों में ही उत्पन्न हुए थे। रैदास जाति के चमार थे, कबीर एक मुसलमान जुलाहे थे, सेना नाई जाति में पैदा हुए थे। रामानन्द स्वतः एक उच्च ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे, वेदों और दर्शनों के वह प्रकाण्ड पण्डित थे, उनकी समाज में उच्च प्रतिष्ठा थी, और श्रीसंप्रदाय जैसी प्रभावशाली धार्मिक संस्था के वह आचार्य्य होने जा रहे थे, फिर भी उन्होंने मुख्यतः समाज के निम्नतम स्तरों को हृदय से लगाया, संस्कृत के अतिरिक्त जनसाधारण को बोली में भी साहित्य-रचना की और उन्हें राम-नाम का मंत्रबीज दिया, ये सब बातें उनकी प्रबल सुधारवादी प्रवृत्ति की ही सूचना हमें देती हैं।

* 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानद।
परगट किया कबीर ने, सत दीप नव खड।'

रामानन्द ने श्रीसंप्रदाय के वैकुण्ठवासी विष्णु या नारायण के बदले उन्हीं के लीलावतार राम की उपासना का मार्ग प्रस्तुत किया, जो जनसाधारण के लिए अधिक ग्राह्य हो सका। यह रामभक्ति-धारा तुलसी की काव्य-गंगा का आवेग पाकर किस प्रकार भारत के लिए एक तीर्थ बन गई यह हम आगे देखेंगे।

रामानन्द भारतीय इतिहास के दो महायुगों की संधिरेखा पर स्थित हैं। उनके आविर्भाव के साथ ही पंडिताऊ युग का अंत और भक्तिप्रधान युग का आरंभ होते हमें दिखाई देता है। अब संस्कृत पीछे छूट चली और हिन्दी आदि आधुनिक बोलियाँ ही सर्वप्रधान बन गईं। यद्यपि रामानन्द के मत-वाद-संबंधी प्रधान ग्रंथ—जैसे ब्रह्मसूत्र पर 'आनंद-भाष्य', 'श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य', 'वैष्णवमतान्तर-भास्कर', 'श्रीरामार्चनपद्धति' आदि—संस्कृत ही में विरचित हैं, किन्तु उन्होंने हिन्दी में भी अनेक पद रचे और इस प्रकार जनसाधारण की बोली में साहित्यसृजन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। उनके कुछ पद सिक्खों के 'ग्रंथ साहब' में भी संकलित मिलते हैं। रामानन्द के बारह प्रधान शिष्य थे रैदास (या रविदास) चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, सेना नाई, पीपा राजपूत, भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरासुरानन्द, परमानन्द, महानन्द और श्रीआनन्द। इनमें से कुछ यद्यपि स्वयं रामानंद के हाथों दीक्षित न हुए थे, तथापि उनकी महानता से आकर्षित होकर ही उन्हें गुरु मानने लगे थे। रैदास आयु में कबीर से बड़े थे। वह जाति के चमार थे तो क्या, आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़े-बड़े ज्ञानियों से ऊँचे उठे हुए थे। कहा जाता है कि प्रेमयोगिनी मीरा ने रैदास ही से भक्तितत्त्व की दीक्षा ली थी। रैदास के लगभग ३० पद 'ग्रंथ साहब' में संगृहीत मिलते हैं। रामानन्द के शिष्यों में सबसे महान् निस्संदेह कबीर हुए, जिनके संबंध में अगले प्रकरण में विशेष परिचय आपको मिलेगा। धन्ना एक जाट किसान थे, सेना जाति के नाई थे, और पीपा एक छोटे-से ठिकाने के अधिपति थे। भवानंद, सुखानन्द आदि रामानुजीय थे, किंतु बाद में रामानन्द के समर्थक बन गए थे। इनके अतिरिक्त और भी अनेक संत इस युग में हुए, जो रामानन्द के शिष्य तो न थे तथापि वही आवाज़ उन्होंने भी उठाई जिसका पहला आघोष रामानन्द ने किया था। वस्तुतः मध्ययुग के उत्तरकालीन भारत का ऐसा कोई प्रान्त न बचा था, जहाँ कोई न कोई महान् संत प्रादुर्भूत न हुआ हो। गुजरात में इसी युग में महान् कृष्णभक्त नरसी मेहता की वाणी गूँजी, जो आज भी उस प्रदेश के जनहृदय में भक्ति की लौ जगाए हुए हैं। महाराष्ट्र में क्रमशः ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास नामक रहस्यवादी संत पैदा हुए, जिनके प्रयास से पश्चिमी समुद्रतटवर्ती भारत का सारा भूभाग एक अभूतपूर्व ज्ञानभक्तिमूलक लहर से परिप्लावित हो गया। ज्ञानेश्वरकृत गीता की टीका 'ज्ञानेश्वरी' भारतीय वाङ्मय का एक अमूल्य रत्न है। नामदेव-विरचित कुछ पद सिक्खों के 'ग्रंथ साहब' में भी संकलित हैं। तुकाराम को हम महाराष्ट्र का तुलसीदास कह सकते हैं। उनके 'अभंग' सारे महाराष्ट्र में उसी प्रकार गाए जाते हैं जैसे उत्तरी भारत में रामायण के पद या कबीर की साखियाँ। रामदास एक क्रांत-दर्शी महापुरुष थे। उनके संबंध में शिवाजी का दिग्दर्शन करते समय आप विशेष परिचय पा सकेंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, रामानन्द का युग भारतीय इतिहास का संत-युग था—उसमें हमारे देश की आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुटन हुआ। रामानन्द और कबीर के ही पदचिह्नों का अनुसरण करते ए क्रमशः दादूदयाल, सुन्दर-दास, रज्जब, धरणीदास, चरणदास, भीखा, दरिया साहब, मलूकदास, पलटूदास, देवराज आदि कई उच्च कोटि के संत उत्तर भारत में हुए, जिनमें दादू (१५४४–१६०३ ई०) सबसे बढ़े-चढ़े थे। कबीर की भाँति वह भी समाज के निम्न स्तरों में से उठे थे—कहते हैं, वह जाति के एक धुनिया थे। उनकी उक्तियों पर कबीर का गहरा प्रभाव दृष्टिगत होता है। यद्यपि उनमें कबीर का मस्तमौलापन नहीं है तथापि रहस्यवाद के क्षेत्र में वह कहीं-कहीं कबीर से काफ़ी ऊँचे उठ गए हैं। दादू, मलूकदास, पलटूदास, सुन्दरदास आदि के पद आज भी जनसाधारण को सरल शब्दों में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का पाठ पढ़ाते हैं। इन मध्यकालीन संतों ने धर्म-मंदाकिनी को लोक में प्रवाहित कर इस देश की सभी जातियों में जो समन्वय का भाव पैदा करने का प्रयास किया, उसके लिए वे सदैव वंदनीय रहेंगे।

कबीर

आज से लगभग साढ़े पाँच सौ वर्ष पहले की बात है। काशी के लहरतारा तालाब के किनारे एक नवजात शिशु कुछ पत्तों की ओट से अपने जीवन की प्रथम मंद मुसकान की किरणें झलका रहा था। किसकी गोद का वह उजाला था और किसने उस स्थान में लाकर इस प्रकार उसे अकेला छोड़ दिया, इसका रहस्य आज तक कोई न जान पाया। केवल इतना ही हमें मालूम है कि इसके बाद उसकी बाल-किलकार के मधुर स्वर से एकाएक एक गरीब जुलाहे का सूना आँगन मुखरित हो उठा। कहते हैं, नीरू (या नूरा) अपनी नवविवाहिता पत्नी नीमा को गौना करा कर पहलेपहल घर लिवा ले आ रहा था कि राह में लहरतारा के किनारे उसे यह बालक अकेला पड़ा दिखाई दिया। ईश्वर की देन समझ नीरू उसे घर उठा लाया। उसने उसका नाम कबीर रक्खा और पाल-पोसकर अपने पुत्र ही की तरह प्रेमपूर्वक उसने उसे बड़ा किया। उसे क्या पता था कि एक दिन उसका यही पोष्य पुत्र न केवल उसकी दीन-हीन जुलाहा जाति का ही प्रत्युत् सारे भारतवर्ष का मुख उजागर करनेवाला एक अन्यतम महापुरुष होगा, जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों अपना-अपना समझेंगे!

एक निर्धन जुलाहे के घर में भला उच्च शिक्षा या संस्कारों के लिए क्या अवसर मिल सकता था! युग-युग से यह जाति अंधकारग्रस्त, पददलित और दीन-हीन चली आ रही थी। शास्त्र-ज्ञान की बात तो बहुत दूर रही, सामान्य अक्षर-ज्ञान से भी वह बहुत-कुछ वंचित थी। संभवतः राजकीय अंकुश के दबाव में आकर ही पिछले कुछ दिनों से वह नवागत इस्लाम के घेरे में चली गई थी, यद्यपि इससे उसे अपने सामाजिक उत्थान में कोई सहायता न मिल सकी, न उसके धार्मिक विश्वास में ही इस मत-परिवर्त्तन से कोई अंतर पड़ा। किन्तु प्रतिभा ऊँच-नीच जाति या शिक्षा-अशिक्षा पर निर्भर नहीं होती, वह ऊबड़-खाबड़ धरती में भी पनपते पाई गई है। कबीर उपजे तो संस्कारहीनता के दलदल में, किन्तु उस पंक मे ही उनकी प्रतिभा का कमल पूर्णतया खिल उठा। किसी गुरुकुल या विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने का अवसर उन्हें न मिला, फिर भी ज्ञान की जिस ऊँचाई पर वह पहुँचे उससे ऊपर दूसरा शायद ही कोई कभी उठ पाया होगा! वह कपड़ा रँग-कर कभी वैरागी या योगी न बने, फिर भी वैराग्य और योग का जो तत्त्व वह समझ सके उससे अधिक दूसरा कौन समझा? उन्होंने न अलंकार और छंद का अध्ययन किया न भाषा का, तथापि साहित्य का भण्डार भरने में वह सफल हुए और हिन्दी के एक महाकवि कहलाए। यह सब उनकी प्रतिभा का ही चमत्कार था, वातावरण की देन नहीं। हाँ, एक पददलित वर्ग में वह पालित-पोषित हुए थे, अतएव स्वभावतः ही उनके रोम रोम से उच्च कहलानेवालों के प्रति विद्रोह की एक प्रखर भावना फूट-फूटकर सदैव अपना रोष प्रकट करती रही। वह चोट खाए हुए थे इसलिए पलटकर उन्होंने भी आततायी वर्ग पर ज़ोरों का आघात किया। किन्तु

उनकी उग्रता में एक प्रतिहिंसक का कटु भाव न था, वस्तुतः उनकी फटकार एक सुधारक की फटकार थी। उनके रौद्र रूप में भी एक आकुलता निहित थी। वह समाज को ललकारने या दण्ड देने के लिए अग्रसर नहीं हुए थे, उसे सद्शिक्षा देना ही उनका उद्देश्य था। इसीलिए उनकी अटपटी उक्तियाँ तीर की तरह चुभनेवाली होकर भी कालान्तर में लोगों के हृदय की निधि बन गईं।

कबीर के जीवन के संबंध में ऐतिहासिकों द्वारा सर्वमान्य कोई आलेख हमारे सामने नहीं है। उनके अनुयायियों ने उनकी जो जीवनी कल्पित कर रक्खी है, उस पर स्वभावतः ही तथ्य से अधिक भावना का रंग चढ़ा हुआ है। उदाहरण के लिए वे उनकी आयु लगभग तीन सौ वर्ष की मानते हैं! श्रेयस्कर यही है कि हम उनकी तिथि, जाति, आयु आदि के विवाद में व्यर्थ को न उलझें। हमारे लिए उस महात्मा का महत्त्व वस्तुतः उसके उपदेशों तथा इस देश के सांस्कृतिक विकास की धारा में उसके प्रभाव में ही है—उसके वैयक्तिक पार्थिव जीवन की सूखी रूपरेखा में नहीं। इस संबंध में यदि हमें जानने की ही उत्कंठा हो तो यही भर याद रख लेना पर्याप्त होगा कि वह काशी में पैदा हुए थे और एक जुलाहे द्वारा उनका पालन-पोषण हुआ था, काशी ही में उनकी अधिकांश आयु व्यतीत हुई, रामानन्द से उन्होंने 'राम' नाम का मंत्र ले लिया, और अंध-विचारों पर प्रहार करते हुए वह जीवन भर निर्गुण ब्रह्म का पाठ लोगों को पढ़ाते रहे। कबीर ने कहीं किसी पाठशाला में कोई शिक्षा न ली, उनकी जो कुछ ज्ञान-साधना थी वह अपनी प्रतिभा अथवा पहुँचे हुए संतों के सत्संग का ही प्रसाद था। पंडिताऊ लोगों से उन्हें स्वभाव से चिढ़ थी, वह उन्हें जी खोलकर फटकारते। इसीलिए दकियानूसी समाज उनके सिर हो लिया। हर तरह से उन्हें दबाने की कोशिशें की गईं, उनका दमन किया गया। किन्तु वह न झुके। पंडितों के गढ़ काशी ही में जीवनभर वह अड़े रहे और मस्तमौला की तरह उन्हें खरी-खोटी सुनाते रहे। बीच-बीच में वह सत्संग के लिए बाहर भी जाते रहते। कहते हैं, अपने पर्यटन के सिलसिले में सुदूर बलख तक का चक्कर वह काट आए थे। कोई-कोई उन्हें मानिकपुर के शेख तकी या ऊजी के पीर का भी शागिर्द बताते हैं, क्योंकि वह उनके पास बहुत आया-जाया करते थे। जो कुछ भी हो इसी तरह लड़ते-झगड़ते, खिझाते-फटकारते, सीखते-सिखाते उनकी उम्र कटी और मरने के कुछ दिन पहले, कहते हैं, काशी से वह मगहर नामक स्थान को चले गए, जहाँ उन्होंने १५१७ ई० में परमधाम-यात्रा की। उस स्थान में हिन्दू और मुसलमान दोनों की ओर से उनके समाधि-स्मारक बने हुए हैं।

कबीर एक रहस्यवादी संत थे। वह जिस 'राम' के प्रेम में छके हुए थे, वह निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक था, सगुण का नहीं। वह एक पहुँचे हुए भक्त, क्रान्त-दर्शी दार्शनिक और विश्व-कवि थे। वेदान्त, सूफ़ी मत, योग, भक्तिधारा सभी का अद्भुत समन्वय उनके विचारों में पाया जाता है। कबीर की कृतियों में सबसे प्रसिद्ध 'बीजक' नामक ग्रंथ है, जिसके 'रमैनी' 'सबद' (शब्द) और 'साखी' ये तीन अंग हैं। कबीर ने स्वयं कोई संप्रदाय स्थापित न किया—यह उनके चेलों की बाद की योजना थी। स्वयं उन्हें तो सभी मठों और संप्रदायों से कट्टर चिढ़ थी। वह एक वैरागी गृहस्थ थे, ज्ञानी फक्कड़ थे, अक्खड़ सुधारवादी थे और थे एक मस्तमौला अवधूत। जितनी स्पष्टवादिता के साथ उन्होंने धर्मध्वजियों की आलोचना की, दूसरा कोई न कर सका। वह लोगों के मस्तिष्क में से अंधविचारों का मकड़ी-जाल झाड़-बुहारकर बाहर निकाल फेंकना चाहते थे। यदि मूर्त्ति-पूजा, जाति-पाँति के भेद, अवतारवाद आदि पर उन्होंने प्रहार किया तो इसका यह अर्थ न था कि वह नास्तिकवादी थे। वस्तुतः हम उन्हें उपनिषद्काल के क्रान्तदर्शी ऋषियों की कोटि का एक स्वाधीन चिन्तक कह सकते हैं। उन्होंने सारतत्त्व की ओर लोगों का ध्यान खींच-कर बाहरी आडम्बर को नोच फेंकने के लिए आवाज़ बुलन्द की। उत्तरी भारत के जनहृदय पर जितना प्रभाव उनका पड़ा उतना तुलसीदास को छोड़कर अन्य कोई मध्यकालीन साधक न स्थापित कर सका। यही कारण है कि डफली के ताल पर आज भी गाँव-गाँव में हम जनता को निम्न शब्दों में उनकी नीराजना करते पाते हैं:—

'जो कुछ रहा सो जोलहा कहिगा, अब जो कहै सो जूँठी!'

चैतन्य

जिस प्रेमावतार भावविभोर विभूति का परिचय अब हम आपको कराने जा रहे हैं, उसकी कोटि के हृदय के धनी संसार में इने-गिने ही हुए हैं। अपने नाम ही के अनुरूप सचेतन था चैतन्य का भावुक हृदय! तनिक-सी भी ठेस पाकर वह भावोन्मत्त हो नाच उठता—बस प्रियतम की याद भर कोई दिला देता कि महाभाव के सागर में वह डूबने-उतराने लगता था! यह मतवाला अपने उपास्य के रंग में इतना गहरा रँग चुका था कि उसकी वाणी, रहन-सहन, हाव-भाव आदि सभी कुछ उस प्रियतम के ही तद्रूप हो गए थे। वस्तुतः मानव हृदयजनित भावों के चरम विकास का वह एक अचरज-भरा नमूना था! जिस प्रकार शंकर के मस्तिष्क में संसार को मानव बुद्धि के चरम उत्कर्ष की एक झलक देखने को मिली थी, इस अद्भुत व्यक्ति में उसी प्रकार मानवीय संवेदना के सूक्ष्म तार अपने अंतिम स्वर-सप्तक पर पहुँचकर मानों झनझना उठे थे! चैतन्य एक धर्मप्रवर्त्तक थे, सुधारक भी थे और शिक्षक भी, किन्तु इन सबसे कहीं अधिक वह एक महासाधक थे। उनका जीवन भक्ति के क्षेत्र में एक अद्भुत असाधारण प्रयोग था, जिसकी महत्ता और गुरुता के आगे बड़े-बड़े विजेताओं की दिग्विजय, साहित्यकारों की कला-साधना या वैज्ञानिकों के चमत्कार लघु प्रतीत होते हैं। उनकी इस उच्च प्रेमसाधना ही ने आगे आने-वाली पीढ़ियों की निगाह में उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया कि वह एक मानव से महामानव बन गए। उनकी यह साधना ही उनका सबसे महान् संदेश था, यही उनका मौन मंत्र था। उसके संकेत द्वारा उन्होंने मानों मस्तिष्क की ऊहापोह की मृगमरीचिका से हमारा ध्यान हटाकर हृदय के अंतराल में हिलोरे ले रहे भावों के अथाह महासागर की एक झलक दिखा दी। उस साधनामय जीवन की प्रत्यक्ष झाँकी यदि हमें देखना हो तो आज से पाँच शताब्दी पीछे हमें लौट चलना होगा, जब यह देश इस महापुरुष के चरण-चिह्नों से पवित्र हो रहा था। यह वही अद्भुत युग था, जब एक ओर रामानन्द के नेतृत्व में राम की सगुण उपासना की धारा बह चली थी तो दूसरी ओर वल्लभ की अधिनायकता में उसी धारा ने कृष्ण-भक्ति का रूप ग्रहण कर गोकुल और वृन्दावन की पुनीत भूमि को फिर से लहलहा दिया था। चैतन्य भी उसी विराट् वैष्णव जन-आन्दोलन के एक नायक थे। जहाँ रामानन्द और वल्लभ उत्तरी भारत के मध्य और पश्चिमी भूभाग को भक्ति की रसधारा से परिप्लावित कर रहे थे, वहाँ उसके पूर्वीय प्रदेश बंगाल और उड़ीसा प्रान्त में वैष्णव मत को वेग देने का भार श्रीचैतन्यदेव ने ही ग्रहण किया था। चैतन्य ने भी वल्लभ की भाँति कृष्ण की उपासना को अपने आन्दोलन का अवलंब बनाया। किन्तु वल्लभ के मतवाद में जहाँ अनुष्ठान या विधि पर ज़ोर दिया गया था, वहाँ चैतन्य की भक्ति-तरङ्ग

शत-प्रति-शत भावप्रधान रूप लेकर ही उच्छ्वसित हुई। इस दृष्टि से बंगाल की वैष्णव-धारा एक निराला ही बाना पहनकर भारतीय धर्म के क्षेत्र में उतरी। श्री चैतन्य का चरित इस नई भक्ति की लहर का मानों एक मूर्त्तिमान् प्रतीक था।

बंगाल में नवद्वीप शास्त्रीय ज्ञान का एक प्रमुख पीठस्थान रहा है। यहीं १४८५ ई० में हमारे चरित-नायक ने जन्म लिया। उनका जन्म-नाम विश्वम्भर था, किंतु अपने असाधारण सौन्दर्य के कारण वह 'गौराङ्ग' भी कहलाते थे। कुछ ही वर्षों में गौराङ्ग एक प्रकाण्ड पण्डित बन गए और स्वयं एक पाठ-शाला खोलकर विद्यार्थियों को शिक्षा देने लगे। इन्हीं दिनों उनके दो विवाह भी हुए। यह था उनके जीवन-नाटक का प्रथम अंक, जिसका हमारे लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं। किन्तु इसके कुछ ही दिन बाद दिवंगत पिता का श्राद्ध करने के लिए वह गया-धाम गए और वहाँ एकाएक उनके हृदयतल से भक्ति का ऐसा उद्दाम स्रोत फूट निकला कि सारा पांडित्य-ज्ञान एक ओर पड़ा रह गया और एक अनिर्वचनीय प्रेमोन्माद में वह मतवाले हो उठे। अब रात-दिन कृष्ण का ही नाम उनकी ज़बान पर था, कृष्ण ही की मनमोहिनी मूर्त्ति उनके नयनपट पर थिरकती रहती, उस मनमोहन का स्मरण करते-करते भावावेश में वह मूर्च्छित हो जाते और जब कुछ संज्ञा-लाभ करते तो पुनः उस प्रियतम के विरह में तड़पते हुए लोटपोट होने लगते थे। उनके जीवन का यह अद्भुत पटपरिवर्त्तन गया में एक वैष्णव संन्यासी ईश्वरपुरी से भेंट के फलस्वरूप हुआ, जो माधवपुरी नामक एक माध्वमतानुयायी महापुरुष के शिष्य थे। बड़ी कठिनाई से गौराङ्ग वापस नवद्वीप लाए जा सके। किन्तु घर लौटकर भी उनके भावोन्माद में कमी न हुई। रात-दिन 'कृष्ण-कृष्ण' की ही रट उन्हें लगी थी, जिसकी धुन सुनकर न केवल नवद्वीप ही के प्रत्युत् बाहर के भी हरिप्रेमी भक्तजन आ-आकर उनके आस-पास जमा होने लगे और संकीर्त्तन में भाग लेने लगे। इनमें अद्वैताचार्य्य और नित्यानन्द नामक दो महान् वैष्णवों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने आगे चलकर श्री चैतन्य के मत का बंगाल में प्रचार करने में सबसे प्रमुख भाग लिया। कुछ ही समय में 'हरिबोल' के स्वर से नवद्वीप की गली-गली गूँज उठी। इसी बीच संन्यास लेकर गौराङ्ग 'कृष्ण-चैतन्य' या 'चैतन्य' बन गए और नवद्वीप से बाहर भी भक्ति का संदेश सुनाने के लिए अग्रसर हुए। वह सबसे पहले पुरी पहुँचे, जहाँ श्री जगन्नाथजी की मूर्त्ति का दर्शन करते समय वह ऐसे भावविभोर हो गए कि मूर्च्छित हो धरती पर गिर पड़े। यहीं सार्वभौम नामक एक राजपंडित, जो अद्वैत दर्शन का पृष्ठपोषक था, उनका शिष्य बन गया। इसके बाद चैतन्य ने अपनी मण्डली के साथ दक्षिण भारत की यात्रा की, जहाँ से वापस पुरी लौटने पर अद्वैताचार्य्य और नित्यानन्द को तो सभी जाति और वर्ण के लोगों को हरिभक्ति में दीक्षित करने का आदेश दे उन्होंने बंगाल की ओर विदा किया और स्वयं झारखंड की राह से अपने प्रिय उपास्य कृष्ण की जन्मभूमि वृन्दावन के लिए वह चल पड़े। इसी यात्रा में सनातन और रूप नामक अपने दो विद्वान् शिष्यों को उन्होंने दीक्षित किया। इस प्रकार लगभग छः वर्ष यात्रा ही में व्यतीत हुए। इस बीच उनके मत में न केवल हिन्दू ही बल्कि कई मुसलमान भी आकर शरीक हो गए थे। उनके जीवन के अंतिम अठारह वर्ष नीलाचल (पुरी) ही में व्यतीत हुए। एक दिन भावोन्माद के आवेश में वह समुद्र को अपने प्रिय कृष्ण की यमुना समझ-कर उसमें कूद पड़े और इस प्रकार सदा के लिए अपने भक्तों से बिछुड़ गए। उनके बाद गौड़ीय वैष्णव मत का किस प्रकार प्रचार हुआ, इसका विवेचन करना हमारा प्रयोजन नहीं। यहाँ तो उस अद्भुत भावमूर्त्ति के ही प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना हमें अभीष्ट है, जिसने वैष्णव भक्ति के आदर्शानुसार 'महाभाव' और 'मधुर रति' का स्वयं अपने जीवन में एक मूर्त्त उदाहरण प्रस्तुत कर न केवल भक्तिशास्त्र को एक वैज्ञानिक रूप ही प्रदान किया, प्रत्युत् समान रूप से सभी को हरिनाम का संदेश सुनाकर मानव-मानव में प्रीति और समन्वय का भाव पैदा करने में भी अनमोल योग दिया। प्रेम ही था चैतन्य का जीवन और प्रेम ही उनका महान् संदेश था! बुद्ध की तरह वह भी करुणा का अवतार लेकर मानों इस भूमि पर अवतीर्ण हुए थे। वह विश्ववंद्य विभूति थे—निस्संकोच हम उन्हें कृष्ण, बुद्ध और ईसा की कोटि का महापुरुष मान सकते हैं।

नानक

पंजाब भारत का उत्तर-पश्चिमी सिंह-द्वार कहा जा सकता है। जब-जब भी इस देश के मर्मस्थल पर स्थल-मार्ग से विदेशी शत्रुओं का कोई प्रहार हुआ, उसके आघात का आवेग पंजाब ही ने सदैव अपना सीना तानकर सँभाला। किन्तु मध्य-युग के उत्तरकाल में एक ऐसे कट्टर और सु-संगठित आक्रमणकारी के साथ भारत का पाला पड़ा, जिसकी भयंकर चोट के सामने ग्रीक या हूणों के पूर्ववर्त्ती हमले नगण्य-से प्रतीत होते थे। यह था नवोत्थित इस्लाम के विजय में मद-माते आक्रमणकारियों का भारतीय सीमान्त पर आकर टकरानेवाला प्रचण्ड ज्वार! इस ओघ के वेग के आगे इस देश का पश्चिमी सीमान्त-वर्त्ती तोरणद्वार लथड़ गया। वह ढह पड़ा और उसके साथ ही शताब्दियों के लिए वीरप्रसूता पंजाबभूमि की शक्ति और प्रतिभा भी मानों एकाएक सुन्न पड़ गई! जहाँ किसी समय ऋग्वेद की प्रथम ऋचाओं का गंभीर स्वर उद्घोषित हुआ था तथा कालान्तर में जिस प्रदेश ने संसार को पाणिनि, चरक, कौटिल्य, असंग, वसुवन्धु और ब्रह्मगुप्त जैसे रत्न दिए, उस पुण्यपावन पंजाब की इस आकस्मिक शोचनीय मूर्च्छा की तह में वस्तुतः छिपी थी नवागत शासनसंस्थापकों द्वारा आयोजित एक दीर्घकालव्यापी अभूतपूर्व दमन और विषसंचार की मर्मान्तिक कहानी, जिसकी कालिमा से भारत में मुसलमानी शासन के न जाने कितने अध्याय कलंकित हैं। यहाँ स्थान नहीं कि हम उस शोकजनक गाथा को उद्धृत करें। हमें तो इतिहास की इस गवाही पर ही ध्यान देना है कि कोई भी जाति, जिसमें संस्कृति के अमर अंकुर छिपे हों, कभी स्थायी रूप से नहीं कुचली जा सकती। समय पाने पर वह फिर उठ खड़ी होती है और उसका पुनरुत्थान सदैव एक क्रान्ति के द्वारा ही होता है। पंद्रहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण के लगभग विक्षुब्ध वातावरण से संत्रस्त पंजाब का आर्य हृदय भी ऐसी ही एक क्रान्ति की चिनगारी की आँच से उद्विग्न होने लगा। वह चिनगारी आरंभ में तो एक धार्मिक प्रतिक्रिया का ही रूप लेकर सामने आई, किन्तु कालान्तर में वही एक ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलन की लपट में परिणत हो गई, जिसके प्रकाश से हमारे इतिहास का एक पूरा अध्याय प्रकाशित है। इतिहास में यह क्रान्ति 'सिक्ख क्रान्ति' के नाम से अभिहित की जाती है और उसके प्रवर्त्तन का श्रेय नानक से गोविंदसिंह तक एक के बाद एक आने-वाले उन दस महान् नेताओं को दिया जाता है, जो 'सिक्खों के दस गुरु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें नानक और गोविन्दसिंह का महत्त्व सबसे अधिक है। नानक ने

इस धर्म-क्रान्ति का सूत्रपात किया—वह एक ऋषि थे। गोविन्दसिंह ने उसे संगठित कर एक राष्ट्रीय रूप दे दिया—वह थे उसके सच्चे लोकनायक। राष्ट्रधर्मी गोविन्दसिंह का चरित आगे चलकर हम अंकित करेंगे, आइए यहाँ गुरू नानक के ही व्यक्तित्व का संक्षेप में परिचय पाने का यत्न करें।

नानक का आविर्भाव उस युग में हुआ, जब रामानन्द, वल्लभ और चैतन्य की प्रेरणा से उत्तरी भारत एक प्रवल धार्मिक प्रतिक्रिया की लहर में वेग से हिल उठा था। कहते हैं, नानक जब पैदा हुए उन दिनों काशी में कबीर अपनी अक्खड़ आवाज़ बुलन्द कर रहे थे। नानक का जन्म १४६६ ई० में लाहौर के समीप तलवंदी नामक ग्राम में हुआ था, जो उनका जन्मस्थान होने के कारण अब सिक्खों का एक पुनीत तीर्थस्थान बन गया है और 'ननकाना साहब' कहलाता है। इनके पिता का नाम कालू वेदी था, जो जाति के खत्री थे। बचपन ही से परमार्थ-चिन्तन की ओर नानक की प्रवृत्ति झलकने लगी। कहते हैं, अल्पायु ही में वह पहुँचे हुए ज्ञानियों जैसी बातें किया करते थे। नाममात्र के लिए उनकी शिक्षा पाठशालाओं में हुई, वस्तुतः उनका समय यहाँ-वहाँ साधु-सन्तों की खोज और उनके साथ सत्संग तथा एकान्त मनन-चिन्तन ही में व्यतीत होता था। पंद्रह-सोलह वर्ष की आयु में नानक का विवाह हुआ, जिससे आगे चलकर उनके दो पुत्र श्रीचन्द और लखमीदास पैदा हुए। कहते हैं, उनकी वैराग्यवृत्ति देखकर उनके माता-पिता बड़े चिन्तित रहते। वे चाहते थे कि नानक किसी लाभप्रद व्यवसाय या कामकाज में लगें। किन्तु नानक की उदार-वृत्ति की सीमा न थी। वह जो कुछ भी घर से ले जाते, उसे संतों को बाँट देते। तंग आकर पिता ने उन्हें जलंधर दुआब के सुल्तानपुर नामक गाँव में अपनी पुत्री नानकी के यहाँ भेज दिया, जहाँ वह नवाब दौलतखाँ के मोदीखाने में नौकर हो गए। नानक की उदारता और साधु प्रवृत्ति अब और भी तीव्र हो चली। जो कुछ बचता वह सब साधु-संतों की सेवा में लगा दिया जाता। अंत में एक दिन अवसर आया देख सब-कुछ त्यागकर उन्होंने स्पष्ट वाणी में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को विपथगामी होने के लिए फटकारना शुरू किया और सच्ची ईश्वर-भक्ति की आवाज़ उठाई। उनकी यह आवाज़ कालान्तर में सारे पंजाब में गूँज उठी और वह युग-प्रवर्त्तक महापुरुष माने जाने लगे। संसार त्यागने के बाद नानक ने अनेक वर्ष तक देश का पर्यटन किया। वह काशी में महात्मा कबीर से भी मिले और कई दिनों तक उनके पास रहकर ज्ञान-चर्चा करते रहे। न केवल भारतवर्ष ही के सभी खास-खास स्थानों की यात्रा उन्होंने की, बल्कि सुदूर मक्का-मदीना तक भी वह हो आए। उनके इस सुदीर्घकालव्यापी लोकजीवन संबंधी अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ उनके अनुयायियों द्वारा सुनाई जाती हैं, किन्तु यहाँ स्थान नहीं कि हम उनका उल्लेख कर सकें। जब १५३८ ई० में जलंधर दुआब के कर्त्तारपुर नामक स्थान में इस महापुरुष ने इस दुनिया से महाप्रयाण किया, तब तक न केवल पंजाब ही में प्रत्युत् अन्य प्रान्तों में भी उनके अनेक अनुयायी बन चुके थे। कबीर की तरह उन्हें भी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही ने अपना-अपना माना। वह भी निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और जाति-पाँति के भेदभाव, मूर्त्तिपूजा, धार्मिक बाह्याडंबर आदि के घोर विरोधी थे। किन्तु वह कबीर-जैसे अक्खड़ न थे, न उनके जैसी तीव्रता ही उनकी वाणी में थी। नानक थे मानवीय संवेदना और करुणा की साक्षात् प्रतिमा। उन्होंने जिस सिक्ख संप्रदाय की प्रस्थापना की, आत्मरक्षा के लिए उसके सदस्यों को कालान्तर में वीरों का सैनिक बाना पहनने के लिए विवश होना पड़ा, किन्तु मूल में नानक ने अपने मत का प्रवर्त्तन निरीह भक्ति और परमार्थ-चिन्ता का ही लक्ष्य सामने रखकर किया था। नानक ने मध्ययुग के अंधकारग्रस्त पंजाब में एक नूतन धार्मिक चेतना जगाई। कबीर की तरह उन्होंने भी समाज के निम्न स्तरों के लिए ईश्वर-भक्ति के विशाल मंदिर के द्वार खोल दिए। उनके द्वारा रचे गए पद सिक्ख संप्रदाय की प्रमुख धार्मिक पुस्तक 'ग्रंथ साहब' में संकलित हैं। उनमें कबीर का तीखा व्यंग्य तो नहीं है, किन्तु उनकी सरल पदावली ही में एक गहन प्रभावोत्पादक संदेश भरा पड़ा है। नानक द्वारा बोया गया सिक्ख धर्म का पौधा आगे चलकर किस तरह बढ़ा और फूला-फला, यह हम गोविंदसिंह का चित्रण करते समय आगे देखेंगे।

सूरदास

वह न तो किसी संप्रदाय या मठ की प्रस्थापना करने हमारे बीच आया था, न किसी को कोई नया ज्ञान का मंत्र सुनाने ही। उसे सुधारक बनने की लालसा न थी, न किसी नवीन दार्शनिक मतवाद का प्रवर्त्तन करने की ही भूख उसे आकुल कर रही थी। वह तो शत-प्रतिशत था केवल एक कविहृदय उपासक—भक्ति की तरङ्गमाला में विभोर एक भावुक गीतगायक। यदि उसने कभी कोई तत्त्ववेत्ता पंडितों जैसी बात भी कही तो अपनी भावनाओं की तरङ्ग में बहकर ही, किसी को कुछ सिखाने-पढ़ाने या अपनी पंडिताई की धाक जमाने के लिए नहीं। सच पूछिए तो उसका काव्य भी उसके हृदय को आन्दोलित-विलोड़ित करनेवाले भक्ति के उद्दाम प्रवाह का ही एक उबाल था—हमारे आज के तथाकथित 'साहित्य-महारथियों' की भाँति 'साहित्य का भाण्डार भरने' का बीड़ा उठाकर अपनी कृतियों की रचना करने के लिए वह अग्रसर न हुआ था, यद्यपि उसे पाकर आज न केवल हिन्दी साहित्य प्रत्युत् समस्त भारतीय वाङ्मय का मुख उजागर है। वस्तुतः काव्य उसकी साधना का एक साधन मात्र था, साध्य नहीं। उसका एक अलबेला उपास्य था, जिससे मिलने की उत्कंठा उसे सदैव आकुल किए रहती थी। ऐसा निर्मम था यह कि उसके चरणों पर एक दिन उसने अपनी अनमोल आँखें तक चढ़ा दीं! उसी के नित्य के चढ़ावे के लिए पत्र-पुष्प के रूप में वह अपने गीतों की रचना करता था—यह उसकी अपने भगवान् के प्रति एक तुच्छ भेंट मात्र थी। यह बात दूसरी थी कि संसार उसकी इस पदावली पर रीझ गया—न केवल उसका अपना युग ही प्रत्युत् बाद के भी सभी युग उसके करुणार्द्र स्वर को सुनकर झूमने लगे। राष्ट्र ने अपने कलामंदिर की सर्वोच्च पंक्ति में उसे बिठाया और साहित्य ने अपने युग के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में उसकी आरती उतारी। किन्तु उसकी कलात्मक अभिव्यंजना के रूप पर रीझनेवालों से पूछा चाहिए कि कितने यह जान पाए कि उस अंधे कवि और गायक के वेश में यथार्थ में कौन छिपा था—क्या वह अपने निठुर लीलाप्रेमी प्रियतम की अनवरत आँख-मिचौनी के खेल में उलझा हुआ एक चिरविरहवेदना-व्याकुल व्यथित मानव ही नहीं था, जो अपने पदों की प्रत्येक पंक्ति की ओट में से रहरहकर कातर और थकित स्वर में मानो कराह-सा उठता था:—

'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल!'

वाल्मीकि, व्यास, कालिदास या कबीर की भाँति सूरदास की भी पार्थिव जीवनलीला का टुक-सा हाल ही संसार को विदित है। कहते हैं, इनका जन्म १४८४ ई० के लगभग दिल्ली के समीप सोही गाँव में हुआ था। कोई-कोई, गोसाईं गोकुलनाथ-विरचित 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के अनुसार, उनका जन्मस्थान आगरा से मथुरा को जानेवाली सड़क पर स्थित रुनकता नामक गाँव को ही मानते हैं। इसी वार्त्ता के आधार पर वह जाति के सारस्वत ब्राह्मण बनाए गए हैं, यद्यपि अन्यत्र महाकवि चन्दबरदाई के भाट-वंश में उनके उत्पन्न होने का भी उल्लेख मिलता है। 'भक्तमाल' में लिखा है कि सूरदास जन्म से ही अंधे थे। किन्तु उनके काव्य में ज्योति, रूप, रंग, आदि का जो सजीव चित्रण है उसे देखते हुए यही अनुमान अधिक सुसंगत है कि वह बाद को नेत्रहीन हुए होंगे। इस संबंध में एक अत्यंत मार्मिक लोकगाथा प्रचलित है, जिसे आधार बनाकर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'सूरदासेर प्रार्थना' शीर्षक अपनी एक हृदयस्पर्शी कविता लिखी है। कहते हैं, एक दिन एक कविहृदय तरुण तपस्वी कालिन्दी-तट पर आया और अपने जादूभरे व्यक्तित्व से धर्मपिपासु नर-नारियों के झुण्ड आकृष्ट करने लगा। किन्तु वह सौन्दर्योपासक जो था! अनायास ही एक दिन समाधि से डिगकर वह एक मनमोहिनी युवती के रूप पर निछावर हो गया। अंत में जब वैराग्य का भाव जगा तब रूप के लोभी चक्षुओं को ही अपने पतन का कारण समझकर उसने उसी युवती के हाथों अपने नयनों में स्वेच्छा से तीक्ष्ण काँटे भोंकवा लिये! विलासी सत्यशोधक कवि बन गया और कवि एक भावुक भक्त। इस प्रकार अपने बाह्य चक्षु खोकर भी वह महाभाग्यशाली न तो अंधा हुआ न निर्धन ही। वह प्रज्ञाचक्षु बन गया और उसके गीतों के साथ ही उसका नाम भी इस देश के इतिहास में युग-युग के लिए अमर हो गया।

कहते हैं, विरक्त होकर सूरदास मथुरा और आगरा के बीच यमुनातट पर गऊघाट नामक स्थान में रहा करते थे। वहीं जब पर्यटन करते हुए श्री वल्लभाचार्य पहुँचे तो सूर ने भक्तिभावपूर्वक उनसे भेंट की। वल्लभ के इच्छानुसार कवि ने अपने कुछ भावपूर्ण पद उन्हें सुनाए। किन्तु महाप्रभु संतुष्ट न हुए—उलटे फटकारते हुए उन्होंने कहा, 'सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे कों है, कछु भगवत्-लीला वर्णन करि।' तदनन्तर उन्होंने सूरदास को ज्ञानोपदेश किया और यथाविधि पुष्टि-मार्ग की दीक्षा दी। यहीं से सूर के मन में श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की लीला के प्रति अनन्य आकर्षण पैदा हुआ और वल्लभ के आदेशानुसार वह गोकुल में श्रीनाथजी के नवनिर्मित मंदिर में रहकर ब्रजभाषा में कृष्णलीला-संबंधी पदों की रचना कर सेवाभाव से उन्हें नित्य गा-गाकर भक्तों को सुनाने लगे। इन्हीं हज़ारों पदों के संकलन का सुफल 'सूरसागर' नामक हिन्दी का वह अनमोल काव्य-ग्रंथ है, जो भारत को सूर की सबसे बड़ी देन और उनका चिरस्मारक कहा जा सकता है। जनश्रुति के अनुसार सूर ने लगभग सवा लाख पद रचे थे, किन्तु अब तक कुल पाँच-छः हज़ार ही पद मिले हैं। सूरदास में दास्यभाव की अपेक्षा अपने उपास्य के प्रति सख्य भाव की प्रधानता है। वल्लभ के उत्तराधिकारी विट्ठलनाथ ने पुष्टि-संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ काव्य-निर्माताओं को चुनकर जिस सुप्रसिद्ध 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की थी, उसमें सूरदास को उन्होंने पहला स्थान दिया था। अंत समय में सूर गोकुल से पारसोली नामक स्थान को चले गए थे। वहीं १५६४ ई० के लगभग ८० वर्ष की आयु में उन्होंने महाप्रयाण किया।

सूरदास एक भक्त थे, कवि थे और थे एक पहुँचे हुए महासाधक। उनका स्थान भारत-निर्माताओं में तुलसीदास, कबीर, नरसी मेहता और तुकाराम के समकक्ष है। न केवल भक्ति की मंदाकिनी को लोक में प्रवाहित करने में ही उन्होंने योग दिया प्रत्युत् सूरसागर के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य का भव्य उद्घाटन कर हमारे इतिहास के एक नए युग का निर्माण भी किया। उनका काव्य मुख्यतः गेय है और आरंभ से अंत तक उनका एक ही विषय है प्रेम। मातृप्रेम और बालस्वभाव के वर्णन में तो शायद ही संसार का कोई कवि उन्हें कभी मात कर सका हो। इस देश के जनहृदय पर उनका स्थायी प्रभाव पड़ा है, जिसका सबसे अधिक प्रमाण यही है कि भक्तिरस में सने हुए उनके गीत आज भी हमारे घर-घर की वस्तु बने हुए हैं!

तुलसीदास

जिन दिनों कालिन्दी के कछार में ब्रज-भारती के अमर पुजारी महाकवि सूरदास अपने तानपूरे के स्वर पर कृष्णभक्ति का मधुर राग अलापते हुए जन-भावनाओं को जगा रहे थे, उत्तरी भारत के क्षितिज पर उन्हीं दिनों एक और कविहृदय भक्त महापुरुष का उदय हुआ, जिनकी दिव्य साधना के प्रकाश से हमारे इतिहास का ढलता हुआ अपराह्नकाल एक नवीन प्राण-संचारक आशा का भाव लेकर जगमगा उठा। यह महानुभाव थे भारत को 'रामचरितमानस' का वरदान देनेवाले महाकवि तुलसीदास, जो एक पाश्चात्य समीक्षक डा० ग्रियर्सन के शब्दों में भगवान् बुद्ध के बाद इस देश के सबसे महान् समन्वयकारी लोकनायक हुए। बुद्ध की तरह तुलसी भी किसी एक युग या देश विशेष ही के प्रकाशस्तम्भ नहीं, प्रत्युत् चिरकालजीवित विश्व-विभूति कहे जा सकते हैं। भारत के अंतस्तल में उन्होंने अपने लिए जो स्थान बना लिया है उसकी गहराई का पता तो इसी एक मोटी-सी बात से लगाया जा सकता है कि पिछले तीन सौ से अधिक वर्षों से इस देश की हिन्दी-भाषाभाषी जनता के बीच जितनी अधिक उनकी रामायण पढ़ी-सुनी जाती रही है उतनी और कोई भी पुस्तक यहाँ नहीं पढ़ी-सुनी गई।

वस्तुतः तुलसी एक उच्च कोटि के कवि, साहित्यकार, संत, सुधारक या भक्त ही नहीं थे, वह एक महान् युग-निर्माता भी थे। जिस प्रकार पुराकाल में वाल्मीकि या व्यास ने श्रुतियों के निगूढ़ वाक्यों में निहित मानवधर्म की सरल सुबोध लौकिक व्याख्या कर 'रामायण' और 'महाभारत' रूपी महान् जनतीर्थों की स्थापना की थी, तुलसी ने भी उसी तरह संस्कृत का युग समाप्त होने पर प्राचीन ज्ञान-निधि और आदर्शों से वंचित जनता के लिए सुगम लोकवाणी में 'रामचरितमानस' रूपी एक महान् जीवनपथ-प्रदर्शक जनकोश की रचना कर अपने युग की लौकिक वर्णमाला में मानो भारत की संस्कृति की पुरातन पोथी को फिर से एक बार लिख डाला। यही नहीं, अपने समय की विशिष्ट समस्याओं के प्रकाश में उन्होंने उस पोथी का पुनर्संस्कार भी किया। उनका युग भक्ति और ज्ञान, निर्गुण और सगुण, गार्हस्थ्य और वैराग्य, तर्क और भावना, लोक और शास्त्र आदि के पारस्परिक संघर्ष के दलदल में फँसा हुआ था। अतएव यह आवश्यक था कि देश को एक योग-सूत्र में ग्रथित करने के लिए इन परस्पर-

विरोधी भावनाओं का समन्वय कराया जाय। यह कठिन कार्य तुलसी ने राम की कथा का आश्रय लेकर सहज ही संभव कर दिखाया। उनका रामचरितमानस सभी का जंगम तीर्थ बन गया, जहाँ निर्गुणोपासक ज्ञानी और सगुणोपासक भक्त, संसारी गृहस्थ और विरागी संन्यासी, विबुध ब्राह्मण और असंस्कृत चाण्डाल सभी एक ही घाट पर ज्ञान-भक्ति-कर्म की त्रिवेणी में गोता लगाने लगे।

अपने पूर्वगामी महाकवि वाल्मीकि, कालिदास या सूरदास की भाँति तुलसीदास भी जीवन में गहरी ठेस पाकर साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। वह १५३२ ई० के लगभग ज़िला बाँदा के राजापुर गाँव के एक सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम था आत्माराम दूबे और माता का हुलसी। किंवदन्ती है कि वह अभुक्त मूल नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे, अतएव माता-पिता द्वारा त्याग दिए जाने पर जब यहाँ-वहाँ भटकने लगे तो नरहरिदास नामक एक महात्मा ने उन्हें अपने साथ ले लिया, जिनके संग काशी में पंचगंगा घाट पर टिककर शेषसनातन नामक एक विद्वान् के शिष्यत्व में उन्होंने वेद, पुराण, दर्शन आदि का गहन अध्ययन किया। १५ वर्ष की आयु में जब वह वापस अपने जन्मस्थान राजापुर लौटे तो उनकी योग्यता पर मुग्ध हो यमुना-पार के एक विद्वान् ब्राह्मण दीनबन्धु पाठक ने अपनी कन्या रत्नावली का उनके साथ विवाह कर दिया, जिसके फलस्वरूप उनके तारक नामक एक अल्पजीवी पुत्र भी हुआ। कहते हैं, विवाह के बाद यह अपनी पत्नी के प्रेम में इतने गहरे रँग गए कि घड़ी भर के लिए भी उसका विरह सहना इनके लिए कठिन हो गया। एक दिन स्त्री के एकाएक मायके चले जाने पर बाढ़ चढ़ी यमुना को पारकर वह ससुराल जा पहुँचे और फलस्वरूप पत्नी द्वारा गहरे फटकारे गए। बस, फिर क्या था! ऐसी गहन ठेस लगी कि तुरन्त ही काशी आकर वैरागी बन गए। इसके बाद उन्नीस-बीस वर्ष तक तुलसीदास ने भारत के प्रमुख तीर्थस्थानों की यात्रा की। १५७४ ई० में अपने उपास्य श्रीरामचन्द्र की जन्मभूमि अयोध्या में उन्होंने अपनी सबसे महान् कृति 'रामचरितमानस' का लिखना आरंभ किया। इस रचना ने उन्हें ख्याति और लोकप्रियता के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। इसके बाद अधिकतर काशी में उनका जीवन बीता, यद्यपि बीच-बीच में अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट आदि स्थानों में भी वह आते-जाते रहे। यहीं संवत् १६८० वि० (१६२३ ई०) में गंगातट पर इस महासाधक ने अपना शरीर छोड़ा। उनकी अन्य कृतियों में दोहावली, कवितावली, गीतावली, विनयपत्रिका, रामाज्ञा प्रश्नावली आदि प्रमुख हैं।

भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में गंगा, यमुना और सरयू ये तीन धाराएँ तीन विशिष्ट पहलुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। गंगा के तट पर हमारे आदि आयुरक्षक ज्ञान-बीज उपजे—वह हमारी युग-युग की ज्ञान-साधना का प्रतीक है। यमुना के कछार में भक्ति का मधुर स्रोत उमड़ा—वह है हमारे भावलोक को परिप्लावित करनेवाली प्राणधारा। सरयू के बखान में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि उसकी ही गोद में रघु, रामचन्द्र जैसे कर्मयोगी अमोघवीर्य्य राजर्षियों की परम्परा विकसित हुई। यह एक उल्लेखनीय बात है कि तुलसीदास भारत के हृदयप्रदेश को सींचनेवाली इन तीनों शिरारूप प्राणवाहिनी धाराओं के संसर्ग में आए। वह यमुना के किनारे (राजापुर में) पैदा हुए; सरयू के किनारे अयोध्या में उन्होंने अपनी साधना का सर्वोत्कृष्ट फल 'रामचरितमानस' प्रकाशित किया; और काशी में गंगातट पर अधिकांश जीवन व्यतीत कर वहीं सदा के लिए आँखें मूँदीं। स्वभावतः ही इन तीनों धाराओं का लाक्षणिक प्रभाव उन पर पड़ा—वह ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के रंग में रँग गए। इसीलिए उत्तरी भारत के जन-हृदय के निर्माण में जितना भाग इधर तुलसीदास ने लिया उतना संभवत. कबीर को छोड़ दूसरा कोई न ले सका। तुलसी ने अपने युग के आदर्शवंचित अंध समाज को एक रास्ता दिखाया—उन्होंने संकट के समय पुरातन आर्य संस्कृति की इमारत को विदेशी संस्कृति के आक्रमणकारी झंझावात के आगे ढह पड़ने से बचाया। यही उनकी सबसे बड़ी देन थी। उनकी वंदना में उन्हीं के समकालीन भक्त नाभाजी ने जो कुछ कहा है उसकी यथार्थता का अनुभव आज तीन शताब्दी बाद भी यह देश कर रहा है—
'कलि कुटिल जीव निस्तार-हित वाल्मीकि तुलसी भयो!'

मीरा

बात उसी भक्तिरसप्लावित पुनीत युग की है, जब क्रमशः वल्लभ, रामानन्द, चैतन्य, रैदास, कबीर, नानक, नरसी, ज्ञानेश्वर, नामदेव, सूर, तुलसी और दादू जैसे संत महापुरुषों को पाकर आर्य जाति का मुख राजनीतिक उतार की दशा में भी दूज के चाँद की भाँति पुनः उजागर हो उठा था। कहते हैं, राजस्थान के नवसंस्थापित मेड़ता राज्य के राठौर अधिपति परम वैष्णव राव दूदाजी के घर एक दिन एक अतिथि साधु आया। उसके पास थी भगवान् कृष्ण की एक सुन्दर मूर्त्ति, जिसे देखकर दूदाजी के पुत्र रत्नसिंह की कन्या मीरा, जो प्रायः अपने दादा के ही पास रहा करती थी, बेतरह मचल गई। विवश हो साधु को वह मूर्त्ति मीरा को दे देना पड़ी। वह प्रतिमा बालिका मीरा का सबसे प्रिय खिलौना बन गई, जिसे दादा की पूजा-पाठ के अनुकरण में वह अपनी गुड़ियों की पिटारी में प्रतिष्ठापित कर बालसुलभ श्रद्धा के साथ नित्य पूजने लगी। एक दिन राजमहल के सामने से होकर एक बारात निकली। भोली बालिका ने मा से पूछा—क्या मेरी भी इसी तरह बारात निकलेगी? किसके साथ मेरा व्याह होगा? मा ने विनोदपूर्वक उस गुड़िया जैसी मूर्त्ति की ओर संकेत कर कहा—इसी गिरधारी के साथ! मीरा हठ पर चढ़ गई। उसने सचमुच ही गिरधारी को अपना पति मान लिया। गुड़ियों का खेल जीवन की कठोर साधना में परिणत हो गया। इसके बाद यद्यपि १३ वर्ष की आयु में मेवाड़ के सिसोदिया राजवंश के प्रदीप महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ मीरा का लौकिक विवाह हुआ और वह चित्तौड़ की महारानी भी बनी, किन्तु वस्तुतः वह अपने बचपन की प्रतिज्ञानुसार सदैव के लिए अपने आपको गोपालकृष्ण पर निछावर कर चुकी थी—उन्हें ही वह अपना पति मान चुकी थी! ससुरालवाले चकित थे, विक्षुब्ध! वे उसे संसार की ओर खींचना चाहते थे, किन्तु इस पगली को यदि किसी से अनुराग था तो केवल अपने गिरधारी से। क्रमशः भक्ति-भावना की उसकी यह लहर एक तूफान में परिणत हो चली और राजमहल का प्राचीर करताल के भक्ति-मिश्रित निनाद से गूँज उठा। मेवाड़ की महारानी लोकलाज छोड़ पैरों में घुँघरू बाँध अपने उपास्य प्रियतम की प्रतिमा के आगे उन्मत्त हो नाचने लगी। राजद्वार पर साधु-संतों का जमघट लगा रहने लगा और जहाँ सदैव 'एकलिङ्ग की जय' का दिल दहला देनेवाला स्वर गूँजा करता था, वहीं मधुर वाणी में अब इस प्रेमयोगिनी का निम्न पद सुनाई पड़ने लगा—

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई!'

राजप्रासाद की विलास-वैभव की दुनिया के लिए यह आवाज़ कुछ अटपटी-सी थी। स्वभावतः ही स्वजनों द्वारा मीरा की राह में हर तरह की अड़चनें डालने की कोशिशें की जाने लगीं। कहते हैं, रुष्ट होकर पति ने उसे एकान्तवास का दण्ड दिया। यह भी प्रवाद है कि उसके साधु-संग और नृत्य-गान को कुल-मर्यादा के विरुद्ध क़रार देकर ससुरालवालों ने विष पिलाकर अथवा सर्प द्वारा डसवाकर उसके प्राण हरने का प्रयास भी किया, यद्यपि इस कार्य में उन्हें सफलता न मिली। विवाह के कुछ ही वर्ष बाद मीरा विधवा हो गई। इस दुर्भाग्यसूचक घटना का कारण स्वयं वही ठहराई गई और इसके लिए अब खुलकर उसे सताया जाने लगा। कहा जाता है कि इस प्रकार उसे कष्ट देने में सबसे अधिक भाग उसके देवर ने लिया। किन्तु वह अपने भक्तिपथ से विचलित न हुई; उलटे पति के निधन के बाद से संसार के प्रति उसकी विरक्ति और गोविंद के चरणों में अनुराग की उसकी भावना और भी तीव्र हो चली। अब वह लोकलाज छोड़ खुले आम गोपाल के मंदिर में नाचती और आँसुओं की धार से नित्य अपने उपास्य के चरण पखारा करती थी। लेकिन कुछ ही दिनों में यंत्रणा और बंधन के उस वातावरण में रहना उसके लिए दूभर हो गया। तब खिन्न होकर उसने गोस्वामी तुलसीदासजी को पत्र लिख उनसे मार्ग-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना की। गोस्वामीजी ने उत्तर में लिख भेजा कि जिसे भगवान् के प्रति प्रीति न हो, उसे करोड़ों वैरी के समान तज देना उचित है, चाहे वह हमारा परम स्नेही ही क्यों न हो! बात मीरा के हृदय में चुभ गई और वह शीघ्र ही चित्तौड़ छोड़कर चल दी। इसके बाद कुछ समय उसने अपने पीहरवालों के साथ तीर्थयात्रा करने में बिताया। किन्तु इस पर भी जब शांति न मिली तो सबको त्यागकर अंत में वृन्दावन में जा बसी। कहते हैं, मीरा ने महान् संत रैदास से भक्तितत्त्व की दीक्षा ली थी। किन्तु ऐतिहासिक मतानुसार रैदास मीरा के समकालीन न थे। हाँ, वृन्दावन में सुप्रसिद्ध जीव गुसाईं से उसकी भेंट होने के प्रमाण मिलते हैं। कहते हैं, पहले तो गुसाईं महोदय ने यह कहकर कि स्त्रियों से वह नहीं मिलते, मीरा से भेंट करने से इन्कार कर दिया। किन्तु जब मीरा ने व्यंग-भरे स्वर में कहा कि 'मैं तो सबको वृन्दावन में सखी रूप में देखती हूँ, पुरुष तो मेरे लिए केवल गिरधारी हैं; हाँ, आज मालूम हुआ कि उनके और भी पट्टीदार हैं,' तो गुसाईं बड़े लज्जित हुए। अंतिम दिनों में, वृन्दावन से मीरा द्वारका चली गई थी। वहीं अनुमानतः संवत् १६३० के लगभग शरीर त्यागकर वह सदा के लिए अपने उपास्य देवता में लीन हो गई।

मीरा की साधना का मूल्य यदि हमें आँकना है तो उसके उन भावपूर्ण संगीतमय पदों को टटोलना आवश्यक है, जिनमें उसके कविहृदय ने भक्ति के आवेश में अपने अंतस्तल की भावनाओं को मानों उँडेल-सा दिया है। ये पद सूर, तुलसी, विद्यापति, चण्डीदास, तुकाराम या नरसी मेहता के गीतों की तरह आज हमारे घर-घर की वस्तु बन गए हैं और हमारे साहित्य की स्थायी निधि में उन्हें स्थान मिल चुका है। उनमें जो भावोन्मेष है, जो अलौकिक प्रेम की तड़पन है, वही मीरा की सच्ची आत्मगाथा है। मीरा की साधना बहुत-कुछ चैतन्य महाप्रभु की भावसाधना से मिलती-जुलती थी—उसमें एक विरह-वेदनाजनित उन्माद था, एक टीस थी। वह कृष्ण को उस कान्त-भाव से पुजती थी, जिसमें भक्ति की लहर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। यह मधुर भाव नारीहृदय की अनुकूल वाटिका में जिस सुखमा के साथ उत्फुल्लित हो पाता है उतना पुरुष-हृदय में नहीं पनप सकता। यही कारण है कि चैतन्य आदि साधकों को जिस महाभाव की प्राप्ति के लिए राधाकृष्ण की लीला के नाटकीय अभिनय, गान और कीर्त्तन आदि का आश्रय लेना पड़ा, वह मीरा को सहज ही केवल अपने अंतःकरण की गहराई में उच्छ्वसित नैसर्गिक प्रेम के प्रवाह में ही मिल गया। मीरा की साधना में हम मध्यकालीन भक्ति का सर्वोत्कृष्ट और सबसे उज्ज्वल स्वरूप देखते हैं। उसमें विधि या अनुष्ठान का जंजाल नहीं, लोकोत्तरता की गंध नहीं, है केवल प्यासी आँखों की एक सच्ची तड़पन और आत्मसमर्पण की विशुद्ध मानवीय कसक, जिसकी प्रतिध्वनि के रूप में हमें सुनाई पड़ता है—

'हे री मैं तो दरद-दीवानी, मेरो दरद न जाने कोय!'

अकबर

पिछले कुछ प्रकरणों में शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्यों से लेकर रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, सूर और तुलसी तक मध्यकालीन भारत को प्रकाशित करनेवाले जिन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों की नीराजना हमने की, उनका संबंध केवल धर्म, दर्शन या साहित्य के ही क्षेत्र से था। तो क्या इस बीच राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा कोई भी उल्लेखनीय व्यक्तित्व इस देश में प्रकट न हुआ, जो हमारे इतिहास के पन्नों पर सदा के लिए अपनी महानता की उज्ज्वल छाप अंकित कर गया हो तथा जिसकी लोकहित-मूलक नीति ने हमें फिर से चन्द्रगुप्त, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य अथवा हर्ष जैसे अपने महिमामय पुरातन राष्ट्रनायकों की याद दिला दी हो ? भारत एक देश ही नहीं विशद महाद्वीप है, अतएव यह सोचना असंगत होगा कि हर्ष के बाद की दस-बारह शताब्दियों की जिस कालावधि में दर्शन, तत्वचिन्तन, कला या साहित्य के क्षेत्र में महान् रचनात्मक प्रयत्न इस देश में किए गए हों, उस युग में यहाँ की राजनीतिक भूमि बिल्कुल ही ऊसर बन गई हो। यह सच है कि देश के शासन की बाग-डोर क्रमशः हिन्दू राजाओं से छिनकर बहुत अंश तक मुस्लिम विजेताओं के हाथों में चली गई थी। यह भी सच है कि बहुतेरे मुस्लिम शासकों द्वारा यहाँ की हिन्दू जनता के प्रति धर्म-संबंधी ऐसी कठोर दमन-नीति का व्यवहार किया गया, जिसके फल-स्वरूप शासक और शासितों के बीच परस्पर विश्वास और सद्भाव संबंधी शोचनीय अभाव पैदा हो गया। किंतु समय बीतते इन शासकों के मन में यह भाव भी गहरा उतरने लगा कि यह देश उनका ही अपना है, उसके साथ उनका रक्त-मांस का संबंध है, और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति में भाग लेना उनका सबसे बड़ा कर्तव्य है। साथ ही यह भी भान उन्हें होने लगा कि किसी भी शासन की जड़ केवल तलवार के बल पर नहीं जमाई जा सकती—उसके लिए आवश्यकता होती है शासितों के प्रति एक विशद उदार दृष्टिकोण को अपनाने और उनकी सच्ची सहानुभूति एवं सद्भाव प्राप्त करने की। इस नवीन उदार भावना की प्रखरतम अभिव्यक्ति हुई महान् मुगल सम्राट् अकबर के समय में, जिसे इतिहास-कारों ने भारत के मध्यकालीन मुसलमान शासकों में सबसे ऊँचा आसन प्रदान किया है। इसमें संदेह नहीं कि अकबर सचमुच ही एक महान् राष्ट्र-निर्माता था। उसके मन में इस देश को एक सूत्र में संगठित करने की पक्की धुन समाई हुई थी। उसने राजनीतिक रंगमंच से सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय का एक ऐसा अनोखा प्रयोग करने का प्रयास किया, जो भारत ही नहीं संसार के

राजप्रासाद की विलास-वैभव की दुनिया के लिए यह आवाज़ कुछ अटपटी-सी थी। स्वभावतः ही स्वजनों द्वारा मीरा की राह में हर तरह की अड़चनें डालने की कोशिशें की जाने लगीं। कहते हैं, रुष्ट होकर पति ने उसे एकान्तवास का दण्ड दिया। यह भी प्रवाद है कि उसके साधु-संग और नृत्य-गान को कुल-मर्यादा के विरुद्ध क़रार देकर ससुरालवालो ने विष पिलाकर अथवा सर्प द्वारा डसवाकर उसके प्राण हरने का प्रयास भी किया, यद्यपि इस कार्य में उन्हें सफलता न मिली। विवाह के कुछ ही वर्ष बाद मीरा विधवा हो गई। इस दुर्भाग्यसूचक घटना का कारण स्वयं वही ठहराई गई और इसके लिए अब खुलकर उसे सताया जाने लगा। कहा जाता है कि इस प्रकार उसे कष्ट देने में सबसे अधिक भाग उसके देवर ने लिया। किन्तु वह अपने भक्तिपथ से विचलित न हुई; उलटे पति के निधन के बाद से संसार के प्रति उसकी विरक्ति और गोविंद के चरणों में अनुराग की उसकी भावना और भी तीव्र हो चली। अब वह लोकलाज छोड़ खुले आम गोपाल के मंदिर में नाचती और आँसुओं की धार से नित्य अपने उपास्य के चरण पखारा करती थी। लेकिन कुछ ही दिनों में यंत्रणा और बंधन के उस वातावरण में रहना उसके लिए दूभर हो गया। तब खिन्न होकर उसने गोस्वामी तुलसीदासजी को पत्र लिख उनसे मार्ग-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना की। गोस्वामीजी ने उत्तर में लिख भेजा कि जिसे भगवान् के प्रति प्रीति न हो, उसे करोड़ों वैरी के समान तज देना उचित है, चाहे वह हमारा परम स्नेही ही क्यों न हो! बात मीरा के हृदय में चुभ गई और वह शीघ्र ही चित्तौड़ छोड़कर चल दी। इसके बाद कुछ समय उसने अपने पीहरवालों के साथ तीर्थयात्रा करने में बिताया। किन्तु इस पर भी जब शांति न मिली तो सबको त्यागकर अंत में वृन्दावन में जा बसी। कहते हैं, मीरा ने महान् संत रैदास से भक्तितत्त्व की दीक्षा ली थी। किन्तु ऐतिहासिक मतानुसार रैदास मीरा के समकालीन न थे। हाँ, वृन्दावन में सुप्रसिद्ध जीव गुसाईं से उसकी भेंट होने के प्रमाण मिलते हैं। कहते हैं, पहले तो गुसाईं महोदय ने यह कहकर कि स्त्रियों से वह नहीं मिलते, मीरा से भेंट करने से इन्कार कर दिया। किन्तु जब मीरा ने व्यंग-भरे स्वर में कहा कि 'मैं तो सबको वृन्दावन में सखी रूप में देखती हूँ, पुरुष तो मेरे लिए केवल गिरधारी हैं; हाँ, आज मालूम हुआ कि उनके और भी पट्टीदार हैं,' तो गुसाईं बड़े लज्जित हुए। अंतिम दिनों में, वृन्दावन से मीरा द्वारका चली गई थी। वहीं अनुमानतः संवत् १६३० के लगभग शरीर त्यागकर वह सदा के लिए अपने उपास्य देवता में लीन हो गई।

मीरा की साधना का मूल्य यदि हमें आँकना है तो उसके उन भावपूर्ण संगीतमय पदों को टटोलना आवश्यक है, जिनमें उसके कविहृदय ने भक्ति के आवेश में अपने अंतस्तल की भावनाओं को मानों उँडेल-सा दिया है। ये पद सूर, तुलसी, विद्यापति, चण्डीदास, तुकाराम या नरसी मेहता के गीतों की तरह आज हमारे घर-घर की वस्तु बन गए हैं और हमारे साहित्य की स्थायी निधि में उन्हें स्थान मिल चुका है। उनमें जो भावोन्मेष है, जो अलौकिक प्रेम की तड़पन है, वही मीरा की सच्ची आत्मगाथा है। मीरा की साधना बहुत-कुछ चैतन्य महाप्रभु की भावसाधना से मिलती-जुलती थी—उसमें एक विरह-वेदनाजनित उन्माद था, एक टीस थी। वह कृष्ण को उस कान्त-भाव से पूजती थी, जिसमें भक्ति की लहर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। यह मधुर भाव नारीहृदय की अनुकूल वाटिका में जिस सुखमा के साथ उत्फुल्लित हो पाता है उतना पुरुष-हृदय में नहीं पनप सकता। यही कारण है कि चैतन्य आदि साधकों को जिस महाभाव की प्राप्ति के लिए राधाकृष्ण की लीला के नाटकीय अभिनय, गान और कीर्त्तन आदि का आश्रय लेना पड़ा, वह मीरा को सहज ही केवल अपने अंतःकरण की गहराई में उच्छ्वसित नैसर्गिक प्रेम के प्रवाह में ही मिल गया। मीरा की साधना में हम मध्यकालीन भक्ति का सर्वोत्कृष्ट और सबसे उज्ज्वल स्वरूप देखते हैं। उसमें विधि या अनुष्ठान का जंजाल नहीं, लोकोत्तरता की गंध नहीं, है केवल प्यासी आँखों की एक सच्ची तड़पन और आत्मसमर्पण की विशुद्ध मानवीय कसक, जिसकी प्रतिध्वनि के रूप में हमें सुनाई पड़ता है—

'हे री मैं तो दरद-दीवानी, मेरो दरद न जाने कोय!'

अकबर

पिछले कुछ प्रकरणों में शंकर, रामानुज, मध्व आदि आचार्यों से लेकर रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, सूर और तुलसी तक मध्यकालीन भारत को प्रकाशित करनेवाले जिन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों की नीराजना हमने की, उनका संबंध केवल धर्म, दर्शन या साहित्य के ही क्षेत्र से था। तो क्या इस बीच राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा कोई भी उल्लेखनीय व्यक्तित्व इस देश में प्रकट न हुआ, जो हमारे इतिहास के पन्नों पर सदा के लिए अपनी महानता की उज्ज्वल छाप अंकित कर गया हो तथा जिसकी लोकहित-मूलक नीति ने हमें फिर से चन्द्रगुप्त, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य अथवा हर्ष जैसे अपने महिमामय पुरातन राष्ट्रनायकों की याद दिला दी हो ? भारत एक देश ही नहीं विशद महाद्वीप है, अतएव यह सोचना असंगत होगा कि हर्ष के बाद की दस-बारह शताब्दियों की जिस कालावधि में दर्शन, तत्त्वचिन्तन, कला या साहित्य के क्षेत्र में महान् रचनात्मक प्रयत्न इस देश में किए गए हों, उस युग में यहाँ की राजनीतिक भूमि बिल्कुल ही ऊसर बन गई हो। यह सच है कि देश के शासन की बाग-डोर क्रमशः हिन्दू राजाओं से छिनकर बहुत अंश तक मुस्लिम विजेताओं के हाथों में चली गई थी। यह भी सच है कि बहुतेरे मुस्लिम शासकों द्वारा यहाँ की हिन्दू जनता के प्रति धर्म-संबंधी ऐसी कठोर दमन-नीति का व्यवहार किया गया, जिसके फल-स्वरूप शासक और शासितों के बीच परस्पर विश्वास और सद्भाव संबंधी शोचनीय अभाव पैदा हो गया। किंतु समय बीतते इन शासकों के मन में यह भाव भी गहरा उतरने लगा कि यह देश उनका ही अपना है, उसके साथ उनका रक्त-मांस का संबंध है, और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति में भाग लेना उनका सबसे बड़ा कर्तव्य है। साथ ही यह भी भान उन्हें होने लगा कि किसी भी शासन की जड़ केवल तलवार के बल पर नहीं जमाई जा सकती—उसके लिए आवश्यकता होती है शासितों के प्रति एक विशद उदार दृष्टिकोण को अपनाने और उनकी सच्ची सहानुभूति एवं सद्भाव प्राप्त करने की। इस नवीन उदार भावना की प्रखरतम अभिव्यक्ति हुई महान् मुगल सम्राट् अकबर के समय में, जिसे इतिहास-कारों ने भारत के मध्यकालीन मुसलमान शासकों में सबसे ऊँचा आसन प्रदान किया है। इसमें संदेह नहीं कि अकबर सचमुच ही एक महान् राष्ट्र-निर्माता था। उसके मन में इस देश को एक सूत्र में संगठित करने की पक्की धुन समाई हुई थी। उसने राजनीतिक रंगमंच से सांस्कृतिक और धार्मिक समन्वय का एक ऐसा अनोखा प्रयोग करने का प्रयास किया, जो भारत ही नहीं संसार के

इतिहास में अपने ढंग का एक ही माना जा सकता है। यहाँ हमारा प्रयोजन इस महान् शासक के जीवन-वृत्त-संबंधी उन सभी अध्यायों के दोहराने का नहीं है, जिनसे हमारे स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली इतिहास की पोथियाँ प्रायः भरी रहती हैं। यह कौन नहीं जानता कि वह कहाँ और किस परिस्थिति में पैदा हुआ, किस प्रकार उसने अपने पिता हुमायू का खोया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त किया, कौन-कौन-सी लड़ाइयाँ उसने लड़ीं और किस प्रकार अपने बाहुबल से मुग़ल साम्राज्य को उसने समृद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया? हमें तो भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में ही उस महापुरुष की सिद्धियों के आलेख का दिग्दर्शन करना भर अभीष्ट है। उसके शासनकाल के महत्त्वपूर्ण आलेख 'आइने-अकबरी' में उल्लिखित 'सुलह्-कुल' (सब के लिए शान्ति) की उसकी नीति में हमें स्पष्ट रूप से उसके महान् उद्देश्यों की एक झलक देखने को मिलती है। अकबर ने अपने शासन-सूत्र ग्रहण करने के समय से ही इस देश के हिन्दू बहुमत के प्रति एक महत्त्वपूर्ण उदारता की नीति का परिचय दिया। उसने ही पहले पहल अपने पूर्वगामी मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दुओं पर लगाए गए 'जज़िया' जैसे अत्याचार-पूर्ण धार्मिक करों को हटाकर हिन्दू गौरव के रक्षक और प्रतिनिधि वीर राजपूतों के प्रति मित्रता और सम्मान का हाथ बढ़ाया। यही नहीं, हिन्दू-मुसलमानों की एकता की गाँठ मजबूत करने के लिए राजस्थान के कई प्रतिष्ठित राजपरिवारों के साथ उसने वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए तथा मानसिंह, भगवानदास, टोडरमल आदि कई योग्य हिन्दुओं को साम्राज्य में उच्च पदों पर प्रतिष्ठापित कर समानता की नीति का परिचय दिया। वह एक चतुर राजनीतिज्ञ था। जिस विशाल साम्राज्य की नींव उसने डाली थी, उसका ढाँचा मज़बूत बनाने के लिए यह आवश्यक था कि देश के सभी छोटे-बड़े राज्य एक ही केन्द्रीय शक्ति की परिधि में आ जायँ। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने जहाँ तक बन सका मित्रता के मंत्र ही से काम लिया। हाँ, जहाँ बिना लड़ाई के काम न चला वहाँ विवश होकर उसे शस्त्र भी ग्रहण करना पड़ा। लेकिन अंत में उसे तलवार की शक्ति की विफलता का गहरा अनुभव हुआ और वह ऐसा कोई मार्ग खोजने लगा जो अधिक दृढ़तापूर्वक इस देश को एक ही सूत्र में गठित करने में उसे सफल बना सके। वह अनुभव करने लगा कि जब तक राष्ट्र में जातीय विद्वेष और धार्मिक मतभेद का वातावरण रहेगा, स्थायी एकता केवल स्वप्नमात्र रहेगी। अतएव उसने सभी धर्मों के विद्वानों को इकट्ठा कर उनके सिद्धान्तों को समझने तथा उन सबके सामान्य तत्त्व को निचोड़कर उनमें समझौता कराने का महत्त्वपूर्ण प्रयास आरंभ किया। इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं कि किस प्रकार वह अपनी नई राजधानी फतेहपुर सीकरी के सुप्रसिद्ध इबादतख़ाने में इस्लाम, हिन्दू धर्म, जैन मत, ईसाई मत आदि के पृष्ठपोषकों से वादविवाद कर अंत में इस नतीजे पर पहुँचा था कि सत्य किसी एक ही मज़हब की बपौती नहीं है, वह सभी धर्म की निधि है और प्रत्येक धर्म का पहला सिद्धान्त सार्वभौमिक सहिष्णुता का भाव ही होना चाहिए। इस सार्वभौम सिद्धान्त को मूर्त्त बनाने के लिए उसने स्वयं 'दीन इलाही' के नाम से एक नया मत चलाने का भी प्रयास किया, यद्यपि कट्टरपंथियों के मारे उसकी यह योजना बहुत-कुछ सिद्धान्त रूप में ही रहकर समाप्त हो गई। किन्तु इससे क्या, समन्वय और एकता का प्रयास करनेवाले एक महान् सत्यशोधक के रूप में तो उसका नाम युग-युग के लिए इतिहास के पन्नों पर अमर हो ही गया।

अकबर के व्यक्तित्व और विचारों की आलोचना करते समय इतिहासकारों ने चौबीस सौ वर्ष पूर्व के अन्य एक भारतीय महाशासक अशोक के साथ उसका अद्भुत साम्य देखकर आश्चर्य प्रकट किया है। किन्तु हमारी दृष्टि में इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। वस्तुतः मुसलमान होकर भी अकबर शत-प्रति-शत भारत की ही उपज था—उसकी वाणी तथा नीति में अपने युग के अनुरूप बाना पहनकर भारत की ही चिरवाणी अभिव्यक्त हुई थी। उसने अपनी उदार शासन-नीति, प्रजावत्सलता, कला-निर्माण, साहित्य-संरक्षण आदि द्वारा प्राचीन भारतीय राज्यादर्श का ही एक उदाहरण प्रस्तुत किया। निस्संदेह भारत-निर्माताओं में उसका आसन प्राचीन राजर्षियों के ही समकक्ष सुरक्षित रहेगा।

प्रताप

चित्तौड़, मेवाड़, सिसोदिया राजवंश—भारतीय इतिहास में ये नाम मानो वीरता, स्वतंत्रता और स्वाभिमान के ज्वलंत प्रतीक बन गए हैं। कौन भारतवासी ऐसा होगा जिसका मस्तक अपने देश के इन गौरवपूर्ण स्मारक-स्तम्भों के पटल पर अंकित आत्म-सम्मान और बलिदान की अमर कहानी को पढ़कर श्रद्धा के साथ न झुक जायगा? किसकी आँखों में केसरिया बाना पहनकर मौत के मुँह में कूद पड़नेवाले चित्तौड़ दुर्ग के रखवाले उन नरकेहरियों और 'जौहर' के हवनकुण्ड में आग के साथ फाग खेलनेवाली उनकी वीराङ्गनाओं का चित्र एक बार पानी न भर लायगा? वे स्वतंत्रता के पुजारी अपना सिर दे देना पसंद करते थे, किन्तु शत्रुओं के आगे उसे झुकाना उन्हें मंजूर न था। जब-जब भी चित्तौड़ का सिंहद्वार आक्रमणकारी शत्रु के ज्वार के आगे खुल पड़ा, उसमें से सदैव मौत के उन खिलाड़ियों का वह केसरिया जुलूस ही अगवानी के लिए सामने आया, और साथ ही किले के भीतर सदा की तरह वीर राजपूत रमणियों द्वारा मनाया गया वही 'जौहर' का पुराना आग का त्यौहार भी, जिसकी समानता संसार के इतिहास में शायद ही और कोई बलिदान का उत्सव कर सका हो! ये कैसे अनोखे खिलाड़ी थे—कैसी अद्भुत थी जीवन के साथ बाज़ी बदने की उनकी लगन! कहाँ से पाई थी उन्होंने आत्मोत्सर्ग की वह निराली उमङ्ग? आज मेवाड़ इन प्रश्नों के संबंध में निरुत्तर है, क्योंकि चित्तौड़ ऊजड़, खाली और सूना पड़ा है, किन्तु जब कभी हमारे पैरों की बेड़ियाँ अपनी खनखन आवाज़ से रह-रहकर किसी बीते अतीत की याद हमें दिलाने लगती हैं तो हमें कुछ-कुछ भान होने लगता है कि वह कौन-सी अनमोल वस्तु थी जिसे मरते दम तक हाथों से गँवाना वे गवारा न करते थे। निस्संदेह वह अमूल्य निधि इस देश की स्वतंत्रता की वह थाती ही थी, जिसे खोकर आज हम अपना सिर धुन रहे हैं। वही उनकी प्रेरक शक्ति थी—वही थी उनकी बलिदान की वेदी। उसके ही लिए वे सदा जिए और उसी के लिए उन्होंने मौत के साथ सदा खेल खेला। ये आज़ादी के दीवाने अपने प्राणों से भी अधिक अपनी स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और जाति के गौरव का मूल्य आँकते थे। यही कारण था कि इनकी रक्षा में अपने आपको मिटा देने में भी वे कभी न हिचा-किचाए! जिस वीरपुङ्गव राजर्षि की आरती अब हम यहाँ उतारने जा रहे हैं, वह भी उन्हीं में से एक था—उसका उनमें वही स्थान था जो हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों में गौरीशंकर का है। उसका नाम सुनते ही क्षत्रियों की भुजाएँ फड़कने लगती थीं और गर्व के साथ उनकी मूँछें और भी अधिक तन जाती थीं। और तो और, उसके शत्रु भी उसकी महानता के प्रति श्रद्धांजलि के दो शब्द चढ़ाए बिना न रहते थे। यह महान् क्षात्रधर्मा नख से शिख तक एक सच्चे राजपूत के साँचे में ढला हुआ था। बड़ी ही निराली थी उसकी आन, जिसकी शान के सामने एक साम्राज्य का वैभव भी कोई मूल्य नहीं रखता था।

वह अपने महान् पूर्वज बप्पा रावल और साँगा की हड्डियों का निचोड़ था और था मानों उनकी युग-व्यापी शक्ति-साधना का सार। तभी तो उसे पाकर राजस्थान धन्य हो गया और आर्य जाति की भीगी पलकें फिर से एक बार मुसकाकर खिल उठीं।

प्रताप का जीवनवृत्त हमारे इतिहास का एक रोमांचक अध्याय है। उसमें एक महाकाव्य की-सी झलक है और है देश की आज़ादी के दीवानों के लिए एक चिर-प्रेरणा का स्रोत। वस्तुतः वह हमारी खोई हुई स्वतंत्रता को पाने की चिर-साध का ही एक प्रतीक है। उसी की पुनरावृत्ति सौ साल बाद पुनः गोविन्दसिंह और शिवाजी के जीवन में हुई—उसी की एक लपट सौ साल पूर्व झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के रूप में फिर से प्रकट हुई। यह एक ऐसा अमर नाट्य है, जिसका यवनिका-पात संभव नहीं, जब तक कि आर्य जाति को अपनी गँवाई हुई स्वातंत्र्य-निधि पुनः प्राप्त न हो जाय। प्रताप का लक्ष्य केवल अपने कुल की मर्यादा और आत्मसम्मान की रक्षा करना ही न था, वह हमारी राष्ट्रीय शक्ति को पुनर्जागरित कर उसे एकराट् बनाने का स्वप्न भी देखते थे। प्रायः वह अपने पिता उदयसिंह की भीरुता और कम-ज़ोरी के लिए संताप प्रकट करते हुए कहा करते—'यदि उदयसिंह पैदा ही न हुए होते अथवा महा-राणा साँगा और मेरे बीच कोई और शासक न जनमा होता तो आज राजस्थान में तुर्कों को झाँकने का भी मौका न मिला होता!' सचमुच ही उदय-सिंह की दुर्बलता का मेवाड़ की पराजय में गहरा हाथ रहा। जब अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की, तब दुर्ग की रक्षा का भार जयमल और पुत्ता पर छोड़कर स्वयं राणा कायरों की तरह अरावली की पहाड़ियों में जा छिपे थे। जयमल और पुत्ता ने तो अपने मर्दाने साथियों के साथ गढ़ की रक्षा में अपनी बलि चढ़ाकर सदा के लिए अमरता पा ली; किन्तु उदयसिंह की कायरता के द्वारा मेवाड़ के राजवंश पर जो कलंक का टीका लग गया, वह प्रताप जैसे वीरों के हृदय में अंत तक शूल पैदा करता रहा। १५७२ ई० में जब उदयसिंह के देहा-वसान पर मेवाड़ का काँटों का ताज हमारे चरित-नायक के सिर पर रक्खा गया, तब उन्होंने जो पहली प्रतिज्ञा की, वह यही थी कि जब तक वापस चित्तौड़ जीतकर पिता द्वारा मातृभूमि के शीश पर लगाया गया कलंक न छुड़ा दूँगा तब तक न तो इन महलों ही में रहूँगा, न चाँदी-सोने के इन बर्त्तनों में ही खाऊँगा, न इन गद्देदार पलंगों पर ही सोऊँगा। और अपनी उस भीष्म-प्रतिज्ञा का प्रताप ने जीवन भर अक्षरशः पालन किया। वह महलों से झोपड़ियों में उतर आए और आजीवन मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपना भाला ऊँचा किए रहे, यद्यपि ऐसे भी दिन आए जब जंगलों की खाक छानते-छानते वह मुट्ठी भर अन्न के लिए भी मुहताज़ हो गए और उनके कोमल शिशुओं को पहाड़ी कंदराओं में शरण लेकर महीनों वन्य धान्य से बनाई गई रोटियों पर ही बसर करना पड़ा!

१५७६ ई० में हल्दीघाटी के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में मुग़ल साम्राज्य की प्रबल सैनिक शक्ति के साथ प्रताप की भीषण टक्कर हुई। किन्तु इस युद्ध का कोई उल्लेखनीय नतीजा न हुआ, वस्तुतः दोनों ही दलों ने अपनी-अपनी विजय मानी। इसके बाद अकबर ने पुनः एक के बाद एक सेना पर सेनाएँ भेजीं, पर प्रताप के सामने उसकी दाल न गली। प्रताप पहाड़ों में से निकलकर यथावसर शाही सेना पर एकाएक छापा मार देते और इस प्रकार उसके पैर उखाड़ देते थे। कालान्तर में, अकबर का मेवाड़ के प्रति हाथ ढीला पड़ गया और प्रताप ने धीरे-धीरे अपना अधिकांश राज्य वापस जीत लिया। इस प्रकार जीवन भर देश की आज़ादी के लिए लड़ते हुए इस महान् राष्ट्रवीर ने १५९७ ई० में अपनी आँखें मूँदीं। प्रताप ने हमें जो पाठ पढ़ाया, वह देश और जाति की स्वतन्त्रता एवं आत्मसम्मान के लिए जीवन उत्सर्ग करने का महान् पाठ था—उन्होंने अपने आदर्श द्वारा हमें फिर से अपनी प्राचीन वीर-परंपरा के रामचन्द्र, अर्जुन, युधिष्ठिर, भीष्म आदि महान् राष्ट्रवीरों की याद दिला दी। वह स्वतंत्रता के सैनिक थे और थे आर्य गौरव के पक्के पुजारी। इसमें संदेह नहीं कि जब तक इस देश के हृदय में वीरता और स्वाधीनता की एक चिनगारी भी जीवित रहेगी, प्रताप का नाम एक ज्वलंत आकाश-प्रदीप के रूप में भारतीय गगन में सदैव चमकता रहेगा।

तानसेन और अन्य संगीतज्ञ

संगीत के क्षेत्र में भारत की साधना का इतिहास वस्तुतः वैदिक काल से भी पहले के समय से आरंभ होता है। किन्तु प्रागैतिहासिकता के धुँधलेपन में आज उसके आदि-सूत्र हमारी आँखों से ओझल हो गए हैं, अतएव यह बतलाना संभव नहीं है कि प्राक्‌वैदिक भारतीय संगीत का रूप कैसा था। हाँ, वेदों के समय की संगीत-कला की बहुत-कुछ झलक हमें कुछ बचे-खुचे सामगायकों तथा ध्रुपद-पारंपाटी के संगीतज्ञों की कला में आज भी देखने को मिल सकती है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि आज से कई हज़ार वर्ष पूर्व ही हमारे पूर्वजों ने अन्य विद्याओं की भाँति ललित कला के इस क्षेत्र में भी कितनी अधिक उन्नति कर ली थी। यहाँ स्थान नहीं है कि प्राचीन भारतीय संगीत के स्वरूप और इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा सके—केवल यही भर सूचित कर देना काफ़ी होगा कि अन्य कलाओं की भाँति संगीत का भी हमारे धार्मिक और सांसारिक जीवन के साथ पुरातन काल ही से प्रगाढ़ संबंध रहा है, उसकी एक विशिष्ट प्रगतिशील परम्परा हमारे यहाँ सदैव जीवित रही है और आज दिन इस क्षेत्र में जो निधि हमें प्राप्त है, वह हमारे पूर्वजों की उस युग-युग-व्यापी साधना का ही प्रसाद है, जो वैदिक सामगायकों के समय से लेकर आधुनिक गीतगायकों तक एक विशद श्रृङ्खला के रूप में हमारे इतिहास के पन्नों को पिरोए हुए है। यह सच है कि राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक उतार-चढ़ाव के साथ-साथ इस श्रृङ्खला की कड़ियाँ कभी-कभी तनतीं या ढीली भी पड़ती रहीं। किन्तु जैसा कि भारतीय इतिहास में प्रायः होता रहा है, परिस्थिति के अनुसार हमारे कला-साधक अपने को समय-समय पर नई लहरों के अनुरूप भी ढालते रहे, जिसके फलस्वरूप स्थापत्य या भास्कर्य की भाँति संगीत में भी नई-नई शैलियों का आविर्भाव और विकास होता रहा। जिस युग की बात हम कहने जा रहे हैं, वह भी ऐसे ही समन्वय-मूलक नवनिर्माण का एक युग था। इस युग में मुसलमानों के आगमन के परिणामस्वरूप पश्चिम के ईरान, तुर्किस्तान और अरब आदि देशों की संस्कृति का भारतीय संस्कृति के साथ निकट स्पर्श हुआ और एक का दूसरे पर गहरा प्रभाव भी पड़ा। इस सांस्कृतिक समागम के सुफल के रूप में स्थापत्य में जहाँ ताज़महल जैसी अनुपम कलाकृतियों का उद्भव हुआ, वहाँ संगीत में 'ख्याल', 'टप्पा' तथा 'ठुमरी' की उन मिश्रित पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ जो आज दिन भारतीय संगीत की शान हैं। किंतु साथ ही, पुरातन हिन्दू संगीत-धारा ने भी ध्रुपद की भव्य शैली के रूप में अपना विशुद्ध स्वरूप बनाए

रक्खा और इस परिपाटी का अनुसरण करनेवाले ऐसे कई प्रतिभाशाली कलाकारों को जन्म दिया, जिनके लिए इस देश के हृदय में सदैव गर्व और सम्मान का भाव बना रहेगा। इनमें सबसे विख्यात नाम अकबर की राजसभा के अन्यतम रत्न महान् संगीतज्ञ तानसेन का है, जिनके विषय में आईने-अकबरी के रचयिता अबुलफज़्ल ने लिखा है कि 'पिछले हज़ार बरसों में सारे भारतवर्ष में इस टक्कर का दूसरा गायक न हुआ!' तानसेन का स्थान भारतीय संगीत के क्षेत्र में उतना ही गौरव-पूर्ण है, जितना काव्य में कालिदास या तुलसी का। वह ध्रुपद शैली के प्राचीन संगीत के हमारे सर्व-श्रेष्ठ स्वरकार माने गए हैं और आज भी बड़े-बड़े उस्ताद उनका नाम सुनकर अपना कान पकड़ने लगते हैं। किन्तु इतने अधिक विख्यात होकर भी उनके जीवन का प्रामाणिक इतिवृत्त हमारे लिए एक अनजान रहस्य ही है। केवल इतना ही हमें ज्ञात है कि वह सोलहवीं शताब्दी में ग्वालियर में पैदा हुए थे, उनके पिता का नाम मकरंद पांडेय था, संगीत का पाठ उन्होंने उसी युग के अन्य एक महान् साधक हरिदास स्वामी से वृंदावन में सीखा, इसके बाद वह कुछ दिनों तक पठान सम्राट् शेरशाह के पुत्र दौलतखान के आश्रय में रहे और उसकी मृत्यु हो जाने पर रीवाँ राज्य के राजा रामचन्द्रसिंह बघेले के यहाँ चले गए, जिसके दरबार से १५६२ में सम्राट् अकबर ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। कहते हैं, तानसेन जन्म से तो ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में वह मुसल-मान बन गए थे। इसका कारण बहुतेरे लोग ग्वालियर के सूफ़ी सन्त और प्रख्यात संगीतज्ञ शेख़ मुहम्मद गौस के साथ उनका संबंध बताते हैं. जिन्हें तानसेन बहुत मानते थे और जिन्होंने उनकी ज़बान से अपनी ज़बान छुआकर उन्हें अपना कला-नैपुण्य दिया था। यह भी प्रवाद है कि अकबर के राजदरबार में एक मुसलमान रमणी के प्रेम में पड़कर ही उन्होंने अपना धर्म-परिवर्त्तन किया था। किन्तु उनके द्वारा रचे गए पदों से यही झलकता है कि यद्यपि उन्होंने इस्लाम कबूल कर लिया था फिर भी हृदय से वह हिन्दू ही बने रहे। तानसेन की मृत्यु संभवतः १५८६ ई० के लगभग हुई। वह ग्वालियर में दफ़नाए गए, जहाँ उनकी समाधि आज भी बनी हुई है और संगीतज्ञों द्वारा एक तीर्थ के तुल्य मानी जाती है।

तानसेन हमारे कलाक्षेत्र के एक अद्वितीय रत्न थे। उन्होंने अपनी दिव्य साधना द्वारा न केवल भारतीय संगीत की प्राचीन प्राणधारा को जीवित ही बनाए रक्खा, प्रत्युत् उसे एक नूतन वेग भी दिया। उन्होंने कई पुराने रागों के संशोधन किए और कुछ नई रागिनियाँ भी बनाईं। कहते हैं, 'मियाँ का मल्हार' और 'दरबारी-कान्हड़ा' जैसे मनमोहक राग उन्हीं की देन हैं। वह केवल एक गीतगायक ही न थे, बल्कि स्वयं कविता भी करते थे। उनके रचे हुए पद आज भी उत्तर भारत के संगीतज्ञों में प्रचलित हैं और उनके हृदय की सूक्ष्म संवेदना का परिचय हमें देते हैं। इस प्रकार तानसेन को हम मध्ययुग के अपने सर्वश्रेष्ठ कलाकार ही के रूप में नहीं, बल्कि एक सच्चे कवि के रूप में भी सामने आते देखते हैं। किन्तु यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इस क्षेत्र में वह अकेले ही नहीं आए थे, उनके साथ-साथ स्वामी हरिदास, बैजू बावरे, गोपाल नायक, सदारंग, शोरी मियाँ आदि और भी अनेक उज्ज्वल रत्न इस युग में क्रमशः प्रकट हुए थे, जिन्हें हम मध्यकालीन भारतीय संगीत के स्तंभ कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। हरिदास तो स्वयं तान-सेन के शिक्षा-गुरु ही थे और अपनी साधना द्वारा कला की उस गहराई तक पहुँच चुके थे, जो केवल एक संत महापुरुष के ही पहुँच की वस्तु होती है। कहते हैं, एक बार छद्मवेश धारण कर स्वयं अकबर तानसेन के साथ उनका संगीत सुनने के लिए उनकी कुटी तक गया था।

उत्तर की तरह दक्षिण में भी मध्ययुग में संगीत की प्रगति में हाथ बँटानेवाले अनेक महापुरुष हुए, जिनमें सबसे उज्ज्वल नाम महान् तेलगू स्वरकार और शब्दकार त्यागराज का है, जो दक्षिणी संगीत के प्रधान युग-निर्माता कहे जा सकते हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत में प्राचीन हिन्दू संगीतधारा अपना रूप अधिक शुद्ध और प्रामाणिक बनाए रही। इसका कारण स्पष्टतः यही था कि वह बाहरी प्रभाव और संसर्ग से बची रही।

मानों इस देश में अवतीर्ण हुए थे। दोनों अपने-अपने ढंग के अनूठे खिलाड़ी थे। किन्तु इस एक बात में उन दोनों में आश्चर्यजनक समानता थी कि वे एक ही राजनीतिक और सांस्कृतिक लक्ष्य को लेकर चले थे। ये दोनों महापुरुष हिन्दू गौरव की रक्षा और आर्य जाति के पुनरुत्थान का स्वप्न साकार बनाने की आकांक्षा रखते थे। वे चाहते थे फिर से इस महादेश में प्राचीन आदर्शों के रक्षक एक शक्तिशाली राष्ट्र की राजनीतिक प्राण-प्रतिष्ठा करना, जिसकी छत्रछाया में आर्य संस्कृति अबाध रूप से अपने विकास का मार्ग खोज सके। इस गौरवपूर्ण स्वप्न को अपने महान् नेतृत्व द्वारा उन्होंने बहुत-कुछ पूरा भी कर दिखाया। उनके प्रचण्ड आघात के आगे मुग़ल साम्राज्य बिखर पड़ा और उसके स्थान में पूरे एक युग तक मराठों तथा सिक्खों की विजय-पताका इस देश में फहराती रही। निस्संदेह ये दोनों ही युगपुरुष उत्तर-कालीन मध्ययुग की हमारी राष्ट्रीयता के प्रमुख विधायक थे। वे आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य की कोटि के कर्मयोगी युग-स्रष्टा थे। तो फिर आइए, एक के बाद एक इस युगल जोड़ी की गौरव-गरिमा का संक्षेप में बखान कर अपने ऋषि-ऋण को चुकाने की चेष्टा करें। पहले हम सिक्ख क्रान्ति के विधायक गुरु गोविंदसिंह के ही चरित पर प्रकाश डालेंगे, शिवाजी के बारे में आपको अगले प्रकरण में परिचय कराया जायगा।

गोविन्दसिंह

सत्रहवीं शताब्दी के आखिरी दिनों की बात है। औरंगज़ेब की अदूरदर्शितापूर्ण दमन-नीति द्वारा अकबर की राष्ट्रीय एकता-संबंधी कमाई पर बहुत-कुछ पानी फेरा जा चुका था। फिर से देश में जज़िया जैसे धार्मिक कर लागू कर दिए गए थे और फलस्वरूप हर कहीं आतंक, बलप्रयोग तथा विक्षेप का ही दौरदौरा दिखाई पड़ने लगा था। भारत का हृदय संत्रस्त था, विक्षुब्ध! किन्तु उसके अंतस्तल के उबाल को उचित दिशा में प्रेरित करनेवाला कोई युगपुरुष अभी सामने नहीं आया था। तब एक साथ ही हमारे राजनीतिक गगन में जनहृदय को उल्लसित करनेवाले दो जाज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ। दक्षिण में शिवाजी प्रकट हुए और उत्तर में गुरु गोविन्दसिंह। दोनों मुग़ल शक्ति से जीवन भर लोहा लेते रहने और अंत में उसकी जड़ उखाड़ फेंकने का ही व्रत लेकर

गोविन्दसिंह गुरु नानक द्वारा संस्थापित उस सिक्ख संप्रदाय के दसवें और अंतिम गुरु थे जिसका उल्लेख पिछले एक प्रकरण में किया जा चुका है। यह संप्रदाय मूल मे तो एक धर्म-संस्था के ही रूप में प्रकट हुआ था, किन्तु परिस्थितियों ने आगे चलकर उसे शस्त्र ग्रहण कर सैनिक बाना धारण करने को भी विवश कर दिया, जिसके फलस्वरूप इस देश के इतिहास में उसके हाथों एक बिलकुल ही निराले अध्याय का

निर्माण हुआ। नानक के बाद सिक्खों के दूसरे, तीसरे और चौथे गुरु—अंगद, अमरदास और रामदास—मुख्यतः इस नवीन संप्रदाय की धार्मिक रूपरेखा का विकास करने ही में व्यस्त रहे। किंतु पाँचवें और छठे गुरु अर्जुनदेव एवं हरगोविंद के समय तक आते-आते कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं कि सिक्ख-धर्म के नेताओं को रक्षा के निमित्त सशस्त्र संगठन करने के लिए भी मजबूर हो जाना पड़ा। इनमें सबसे प्रमुख घटना थी मुग़ल सम्राट् जहाँगीर द्वारा गुरु अर्जुनदेव का क्रूरतापूर्वक दमन और वध, जिसने नानक के निरीह भक्तों के हृदय में मुग़ल राजशक्ति के विरुद्ध प्रतिहिंसा और रोष की एक दुर्द्धर्ष आग की चिनगारी सुलगा दी। यही चिनगारी दो पीढ़ी बाद एक भीषण लपट का रूप ले रौद्र भाव से भभक उठी, जब नवें गुरु तेज-बहादुर भी औरंगज़ेब द्वारा तलवार के घाट उतार दिए गए और मुग़ल राजशक्ति हाथ धोकर सिक्खों को उखाड़ फेंकने पर उतारू दिखाई देने लगी! इसी संकट के समय में दसवें गुरु गोविन्दसिंह, जो एक क्रान्तदर्शी महापुरुष थे, सिक्खों के कर्णधार बने। उन्होंने देखा कि केवल माला जपकर ही जाति का उद्धार होना संभव नहीं है, यदि उसे जीवित रखना है तो ऐसे शक्ति-सूत्र में उसको संगठित करना होगा, जो स्थायी रूप से उसे शत्रुओं के आघात से सुरक्षित बना सके। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने जाति के बच्चे-बच्चे को उसकी रक्षा के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए तैयार करने का निश्चय किया। दूसरे शब्दों में, उनमें से प्रत्येक को सदा के लिए सैनिक बाना पहना देने तथा उसके अंतराल में स्थायी रूप से क्षात्र धर्म का बीजारोपण कर देने की योजना उन्होंने तैयार की। इस महान् योजना द्वारा नख से शिख तक एक सच्चे सिपाही का बाना पहने हुए एक ऐसे निराले मानव का उन्होंने निर्माण कर दिया, जो संसार के इतिहास में अपने ढंग का एक ही नमूना था। यह नवनिर्मित मानव—जिसे गुरु ने सामुहिक रूप से 'खालसा' का नाम दिया—आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों ही दुनिया का प्राणी था। वह संत भी था और सैनिक भी, आत्मोद्धार के लिए भी उत्सुक और जातीयता की रक्षा के लिए भी। इस नए मनुष्य के सामने आते ही पंजाब में आर्य शक्ति के सूखे तने में फिर से नई कोंपलें फूट निकलीं, साथ ही 'वाह गुरु' का आघोष करता हुआ शोणितों का जन-प्रवाह अपने प्राकृत अधिकारों के रक्षण के लिए मानों सागर की तरह उमड़ पड़ा। गोविन्दसिंह ने प्रत्येक सिक्ख के लिए पाँच वस्तुओं का धारण करना अनिवार्य रूप से आवश्यक बना दिया। ये वस्तुएँ थीं केश, कड़ा, कांघ, कच्छ और कृपाण। साथ ही 'खालसा' की रक्षा के लिए कीर्त्तिनाश, कुलनाश, धर्मनाश और कर्मनाश तक के लिए तत्पर होने के लिए प्रत्येक सिक्ख को उन्होंने तैयार कर दिया! इन सब बातों का एकमात्र उद्देश्य था जाति को अपने पैरों पर खड़ा करना—उसे अपनी संस्कृति की रक्षा करने के लिए समर्थ बनाना। कहने की आवश्यकता नहीं कि गोविंदसिंह की इस योजना का ही यह फल था कि पंजाब में आर्य जाति संकट के दिनों में भी अपना अस्तित्व बनाए रही।

गोविन्दसिंह का अधिकांश जीवन मुग़लों से लोहा लेते ही बीता। फलस्वरूप इस अनवरत संघर्ष के सिलसिले में उन्हें समय-समय पर अनेक कड़वी घूँटें भी पीना पड़ीं। उदाहरण के लिए, उनके दो पुत्रों को मुग़लों ने निर्दयतापूर्वक जीवित ही दीवार में चुनवाकर मार डाला! फिर भी एक सच्चे वीर पुरुष की भाँति गोविन्दसिंह कभी अपने राष्ट्र-निर्माण के पथ से विचलित न हुए। वह जीवन भर आर्यभूमि को जगाने और लोगों में वीरता, स्वतंत्रता एवं स्वाभिमान की भावना अंकुरित करने ही में व्यस्त रहे। १७०८ ई० में दक्षिण में गोदावरी-तट पर नाँदेर नामक स्थान में उनकी मृत्यु के बाद किस प्रकार सिक्खों की राजनीतिक शक्ति का उत्थान और विकास हुआ, यह इतिहास का विषय है, हमारी इस प्रस्तुत रचना का नहीं। हाँ, चलते-चलते इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि गोविंदसिंह न केवल एक महान् जन-नेता और कुशल सेनानायक ही थे, प्रत्युत् एक उद्भट तत्ववेत्ता, पहुँचे हुए महात्मा तथा कविहृदय साहित्यकार भी थे। उनकी 'विचित्र नाटक' जैसी कृतियाँ आज भी उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की ज्वलंत साक्षी के रूप में हमारे आदर की वस्तु बनी हुई हैं।

शिवाजी

भारतीय इतिहास में शिवाजी का नाम उतना ही गौरवपूर्ण और महान् है, जितना फ्रान्स की आत्मकथा में नेपोलियन का अथवा इटली के इतिहास में गैरीबाल्डी का है। शिवाजी का स्मरण करते ही हमारी नसें फड़कने लगती हैं और अपनी भूली हुई शपथें हमें मानों फिर से ... हैं। वह हमारे इतिहास के दो ... स्थित राष्ट्रीय पुनरुत्थान का उज्ज्वल प्रकाशस्तम्भ हैं। वही अतीत के अंतिम राजर्षि और पूजनीय राष्ट्र-निर्माता हैं। यह सच है ... द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का ... था, उसे हम अधिक दिन ... । किन्तु यह बात भी नहीं ... ही ... और ... नहीं सकेंगे।

आज के राष्ट्रीय पुनर्जागरण की हरीतिमा क्या उस न्यग्रोध के भावी वसन्तागम की ही सुदृढ़ सूचना नहीं है?

यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस देश में पुनः हिन्दू राष्ट्र की प्रस्थापना करनेवाले इस अन्यतम महापुरुष की भी रगों में उसी वीरप्रसूता मेवाड़भूमि का रक्त बह रहा था, जिसका नाम भारतीय इतिहास में जातिगौरव और आत्म-सम्मान का एक प्रतीक-सा बन गया है! कहते हैं, मेवाड़ के गौरवशाली सिसोदिया वंश का एक राजकुमार— सज्जनसिंह—प्रथम मुस्लिम आक्रमण के समय भोसावत नामक अपनी जागीर छोड़कर भाग्य आजमाने के लिए राजस्थान से दक्षिण भारत में जा बसा था। उसकी ही कुल-परंपरा में—जो भोसावत के नाम पर 'भोसले' के उपनाम से अब पुकारी जाने लगी थी—तीन सौ वर्ष पूर्व हमारे चरितनायक का प्रादुर्भाव हुआ। शिवाजी के पितामह मालोजी को अहमदनगर राज्य की ओर से एक जागीर मिली थी। इसी पर उनके पिता शाहजी भी बसर करते रहे। किन्तु अहमदनगर की बादशाहत का जब शाहजहाँ ... अंत कर दिया तो शाहजी को खिसककर बीजा- ... की शरण में चला जाना पड़ा। इन दिनों ... जीजाबाई गर्भवती थी, अतएव उसे वह ... पहाड़ी दुर्ग में छिपाकर कुछ रक्षकों ... थे। यहीं १९ अप्रैल, १६२७, के ... शिवाजी का जन्म हुआ। किन्तु ... ही थे कि शत्रु मुग़ल सैनिकों ... । की टोह लग गई ... पकड़ ले गए। हाँ, कुछ ... शिवाजी को उनके हाथ

निर्माण हुआ। नानक के बाद सिक्खों के दूसरे, तीसरे और चौथे गुरु—अंगद, अमरदास और रामदास—मुख्यतः इस नवीन संप्रदाय की धार्मिक रूपरेखा का विकास करने ही में व्यस्त रहे। किंतु पाँचवें और छठे गुरु अर्जुनदेव एवं हरगोविंद के समय तक आते-आते कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं कि सिक्ख-धर्म के नेताओं को रक्षा के निमित्त सशस्त्र संगठन करने के लिए भी मजबूर हो जाना पड़ा। इनमें सबसे प्रमुख घटना थी मुग़ल सम्राट् जहाँगीर द्वारा गुरु अर्जुनदेव का क्रूरतापूर्वक दमन और वध, जिसने नानक के निरीह भक्तों के हृदय में मुग़ल राजशक्ति के विरुद्ध प्रतिहिंसा और रोष की एक दुर्द्धर्ष आग की चिनगारी सुलगा दी। यही चिनगारी दो पीढ़ी बाद एक भीषण लपट का रूप ले रौद्र भाव से भभक उठी, जब नवें गुरु तेज-बहादुर भी औरंगज़ेब द्वारा तलवार के घाट उतार दिए गए और मुग़ल राजशक्ति हाथ धोकर सिक्खों को उखाड़ फेंकने पर उतारू दिखाई देने लगी! इसी संकट के समय में दसवें गुरु गोविन्दसिंह, जो एक क्रान्तदर्शी महापुरुष थे, सिक्खों के कर्णधार बने। उन्होंने देखा कि केवल माला जपकर ही जाति का उद्धार होना संभव नहीं है, यदि उसे जीवित रखना है तो ऐसे शक्ति-सूत्र में उसको संगठित करना होगा, जो स्थायी रूप से उसे शत्रुओं के आघात से सुरक्षित बना सके। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने जाति के बच्चे-बच्चे को उसकी रक्षा के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए तैयार करने का निश्चय किया। दूसरे शब्दों में, उनमें से प्रत्येक को सदा के लिए सैनिक बाना पहना देने तथा उसके अंतराल में स्थायी रूप से क्षात्र धर्म का बीजारोपण कर देने की योजना उन्होंने तैयार की। इस महान् योजना द्वारा नख से शिख तक एक सच्चे सिपाही का बाना पहने हुए एक ऐसे निराले मानव का उन्होंने निर्माण कर दिया, जो संसार के इतिहास में अपने ढंग का एक ही नमूना था। यह नवनिर्मित मानव—जिसे गुरु ने सामुहिक रूप से 'खालसा' का नाम दिया—आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों ही दुनिया का प्राणी था। वह संत भी था और सैनिक भी, आत्मोद्धार के लिए भी उत्सुक और जातीयता की रक्षा के लिए भी। इस नए मनुष्य के सामने आते ही पंजाब में आर्य शक्ति के सूखे तने में फिर से नई कोंपलें फूट निकलीं, साथ ही 'वाह गुरु' का आघोष करता हुआ शोषितों का जन-प्रवाह अपने प्राकृत अधिकारों के रक्षण के लिए मानों सागर की तरह उमड़ पड़ा। गोविन्दसिंह ने प्रत्येक सिक्ख के लिए पाँच वस्तुओं का धारण करना अनिवार्य रूप से आवश्यक बना दिया। ये वस्तुएँ थीं केश, कड़ा, काँक, कच्छ और कृपाण। साथ ही 'खालसा' की रक्षा के लिए कीर्त्तिनाश, कुलनाश, धर्मनाश और कर्मनाश तक के लिए तत्पर होने के लिए प्रत्येक सिक्ख को उन्होंने तैयार कर दिया! इन सब बातों का एकमात्र उद्देश्य था जाति को अपने पैरों पर खड़ा करना—उसे अपनी संस्कृति की रक्षा करने के लिए समर्थ बनाना। कहने की आवश्यकता नहीं कि गोविंदसिंह की इस योजना का ही यह फल था कि पंजाब में आर्य जाति संकट के दिनों में भी अपना अस्तित्व बनाए रही।

गोविन्दसिंह का अधिकांश जीवन मुग़लों से लोहा लेते ही बीता। फलस्वरूप इस अनवरत संघर्ष के सिलसिले में उन्हें समय-समय पर अनेक कड़वी घूँटें भी पीना पड़ीं। उदाहरण के लिए, उनके दो पुत्रों को मुग़लों ने निर्दयतापूर्वक जीवित ही दीवार में चुनवाकर मार डाला! फिर भी एक सच्चे वीर पुरुष की भाँति गोविन्दसिंह कभी अपने राष्ट्र-निर्माण के पथ से विचलित न हुए। वह जीवन भर आर्यभूमि को जगाने और लोगों में वीरता, स्वतंत्रता एवं स्वाभिमान की भावना अंकुरित करने ही में व्यस्त रहे। १७०८ ई० में दक्षिण में गोदावरी-तट पर नाँदेर नामक स्थान में उनकी मृत्यु के बाद किस प्रकार सिक्खों की राजनीतिक शक्ति का उत्थान और विकास हुआ, यह इतिहास का विषय है, हमारी इस प्रस्तुत रचना का नहीं। हाँ, चलते-चलते इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि गोविंदसिंह न केवल एक महान् जन-नेता और कुशल सेनानायक ही थे, प्रत्युत् एक उद्भट तत्त्ववेत्ता, पहुँचे हुए महात्मा तथा कविहृदय साहित्यकार भी थे। उनकी 'विचित्र नाटक' जैसी कृतियाँ आज भी उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा की ज्वलंत साक्षी के रूप में हमारे आदर की वस्तु बनी हुई हैं।

शिवाजी

भारतीय इतिहास में शिवाजी का नाम उतना ही गौरवपूर्ण और महान् है, जितना फ्रान्स की आत्मकथा में नेपोलियन का अथवा इटली के इतिहास में गैरीबालडी का है। शिवाजी का स्मरण करते ही हमारी नसें फड़कने लगती हैं और अपनी भूली हुई शपथें हमें मानो फिर से याद आ जाती हैं। वह हमारे इतिहास के दो महायुगों की संधिरेखा पर स्थित राष्ट्रीय पुनरुत्थान का मार्ग दिखानेवाले एक उज्ज्वल प्रकाशस्तम्भ हैं। वही हमारे देश के भव्य अतीत के अंतिम राजर्षि और वर्त्तमान युग के प्रथम पूजनीय राष्ट्र-निर्माता हैं। यह सच है कि अपने अपूर्व पराक्रम द्वारा उन्होंने स्वाधीनता का जो विशाल वट-वृक्ष खड़ा किया था, उसे हम अधिक दिनों तक हरा-भरा न रख सके। किन्तु यह बात भी नहीं है कि उसकी जटाएँ बिल्कुल ही सूख गई हों—उसमें अब भी जीवन-रस शेष है और वह समय दूर नहीं है जब हम पुनः उसे पूर्ववत् ही पल्लवित देख सकेंगे। हमारे आज के राष्ट्रीय पुनर्जागरण की हरीतिमा क्या उस न्यग्रोध के भावी वसन्तागम की ही सुदृढ़ सूचना नहीं है?

यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस देश में पुनः हिन्दू राष्ट्र की प्रस्थापना करनेवाले इस अन्यतम महापुरुष की भी रगों में उसी वीरप्रसूता मेवाड़भूमि का रक्त बह रहा था, जिसका नाम भारतीय इतिहास में जातिगौरव और आत्म-सम्मान का एक प्रतीक-सा बन गया है! कहते हैं, मेवाड़ के गौरवशाली सिसोदिया वंश का एक राजकुमार—सज्जनसिंह—प्रथम मुस्लिम आक्रमण के समय भोसावत नामक अपनी जागीर छोड़कर भाग्य आजमाने के लिए राजस्थान से दक्षिण भारत में जा बसा था। उसकी ही कुल-परंपरा में—जो भोसावत के नाम पर 'भोसले' के उपनाम से अब पुकारी जाने लगी थी—तीन सौ वर्ष पूर्व हमारे चरितनायक का प्रादुर्भाव हुआ। शिवाजी के पितामह मालोजी को अहमदनगर राज्य की ओर से एक जागीर मिली थी। इसी पर उनके पिता शाहजी भी बसर करते रहे। किन्तु अहमदनगर की बादशाहत का जब शाहजहाँ ने अंत कर दिया तो शाहजी को खिसककर बीजापुर राज्य की शरण में चला जाना पड़ा। इन दिनों उनकी स्त्री जीजाबाई गर्भवती थी, अतएव उसे वह शिवनेर के पहाड़ी दुर्ग में छिपाकर कुछ रक्षकों के साथ छोड़ गए थे। यहीं १६ अप्रैल, १६२७, के दिन महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी का जन्म हुआ। किन्तु अभी शिवाजी बालक ही थे कि शत्रु मुग़ल सैनिकों को जीजाबाई के गुप्त निवासस्थान की टोह लग गई और छापा मारकर वे उन्हें पकड़ ले गए। हाँ, कुछ साहसी अनुचरों ने बालक शिवाजी को उनके हाथ

पड़ने से बचा लिया और पूरे तीन वर्ष तक मुगलों की आँख बचाकर वे उन्हें दुर्गम पहाड़ियों में एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाकर छिपाते रहे। कहते हैं, जब शिवाजी दस वर्ष के हुए तब किसी प्रकार शत्रुओं के हाथ से निकलकर उनकी माता पुनः उनसे आ मिली। इसी समय मुगलों की बीजापुर राज्य के साथ संधि भी हो गई, अतएव पुनः शांति का वातावरण छा जाने पर शाहजी ने अपनी पत्नी को पुत्रसहित बीजापुर बुला भेजा। किन्तु शिवाजी अधिक दिनों तक बीजापुर में न टिक सके। उनमें बाल्यकाल ही से एक विशिष्ट स्वाधीन चेतना का भाव जग उठा था। कहते हैं, एक दिन बीजापुर में गो-हत्या के सवाल पर एक भारी दंगा हुआ। इस दंगे की आग सुलगानेवाले शिवाजी ही थे। पिता ने घबड़ाकर पुत्र को माँ के साथ वापस महाराष्ट्र में अपनी जागीर में रहने को भेज दिया और दादाजी कोंडदेव नामक एक कर्मठ ब्राह्मण को उनका शिक्षक तथा संरक्षक नियुक्त कर दिया। दादाजी ने मानों शिवाजी के भविष्य को पहचानकर आरंभ ही से उनमें वीरता, स्वाभिमान और स्वातंत्र्य-प्रेम की भावनाएँ भरना शुरू किया। वह उन्हें महाभारत और रामायण की जोशभरी कथाएँ सुनाते, घुड़सवारी और अस्त्र-शस्त्र-संचालन की सीख देते, तथा हर प्रकार से उन्हें एक आदर्श क्षत्रिय बनाने का ही प्रयत्न करते थे। इस द्रोणाचार्य्य के तुल्य गुरु की प्रेरणा से शिवाजी के मन में अपने राष्ट्र को उबारने की तीव्र आकांक्षा जग उठी और जैसे ही उन्होंने किशोरावस्था से यौवन के द्वार पर क़दम रक्खा, उनका क्षत्रियत्व उबलकर पूरे जोश के साथ अभिव्यक्ति का मार्ग खोजने लगा। अंत में एक दिन चुपके से अपने साथियों की एक टोली ले उन्होंने पड़ौस के तोरणा नामक एक दुर्ग पर, जो बीजापुर के अधीन था, छापा मार वहाँ का सारा खजाना व शस्त्रागार लूट लिया। यह था मानों उनके भावी महान् विजय-पथ का पहला सोपान, जिसके बाद तो अनवरत राजनीतिक पैंतरेबाज़ी और दाँव-पेंच के एक ऐसे अनोखे लंबे अध्याय का उन्होंने हमारे इतिहास में उद्घाटन किया, जिसकी पूरी कहानी यदि यहाँ सुनाई जाय तो अलग से एक पूरी पुस्तक की ही आवश्यकता होगी। कभी धावा बोलकर तो कभी कूट-नीति द्वारा, वह लगातार एक के बाद एक क़िले और गाँव जीतकर अपने अधिकार में करते गए और क्रमशः उन्होंने अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली कि न केवल बीजापुर राज्य ही बल्कि महान् मुगल साम्राज्य तक उनके आतंक से एकबारगी ही काँप उठा!

शिवाजी के अफ़ज़ल-वध जैसे कुछ कार्य्य इतिहासकारों के मत में श्लाघ्य नहीं माने गए हैं, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में वह वस्तुतः चाणक्य या श्रीकृष्ण की नीति के ही अनुयायी थे—उन्हें अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए ऐसे साधनों को यथावसर अपनाते हुए हिचक नहीं होती थी। जब औरंगज़ेब ने जयसिंह द्वारा फुसलाकर धोखा दे, उन्हें आगरे में क़ैद कर लिया था, तब जिस चतुराई से वह उसकी क़ैद से निकल भागे थे, उससे हमें उनकी क्षमता का सबसे अच्छा परिचय मिलता है। प्रायः उनके योद्धा-वेश की चकाचौंध में हम उनके महान् राजनीतिक व्यक्तित्व का भान भूल जाते हैं। किन्तु सच पूछिए तो शिवाजी एक रणकुशल सेनानी से भी अधिक एक महान् राजनीतिज्ञ ही थे। अपने बाहुबल से भी अधिक वह अपनी अद्वितीय राजनीतिक बुद्धि के ही बल पर मुगल शक्ति की जड़ हिलाने में समर्थ हुए थे। मृत्यु से छः वर्ष पूर्व, १६७४ ई० में, शिवाजी का रायगढ़ के क़िले में धूमधाम के साथ यथाविधि राज्याभिषेक हुआ। इस प्रकार उस स्वतंत्र मराठा साम्राज्य की नींव पड़ी, जिसने आगे चलकर फिर से एकबार गंगा-यमुना के मैदानों से लेकर कुमारी अंतरीप तक हिन्दू राजशक्ति का झंडा फहरा दिया।

शिवाजी के उत्थान के साथ उस युग की एक और महान् विभूति समर्थ गुरु रामदास का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है, जो भारत में पुनः आर्य राजशक्ति को जगाने के लिए मानों कफनी पहनकर लोक के बीच उतर पड़े थे। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि रामदास ही ने महाराष्ट्र में क्रान्ति का बीजारोपण किया। वही शिवाजी के प्रमुख आध्यात्मिक और राजनीतिक गुरु थे। कहते हैं, शिवाजी ने अपना सारा राज्य उन्हें ही समर्पण कर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। तभी से मराठों के झंडे का रंग भी गेरुआ बना दिया गया था।

अहल्याबाई

हमारे इतिहास की गौरवगाथा के निर्माण में अकेले पुरुषवर्ग का ही हाथ नहीं रहा है, प्रत्युत् महिलाओं ने भी समय-समय पर अपनी प्रतिभा, साधना और तपश्चर्या द्वारा उसमें महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। उदाहरण के लिए गार्गी, लोपामुद्रा, भारती, लीलावती और मीरा के ही नाम गिना देना काफ़ी होगा, जिनका उल्लेख इसके पूर्व ही इस पुस्तक में यथास्थान किया जा चुका है। वस्तुतः ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जिसमें पुरुषों के साथ-साथ भारतीय स्त्रियों ने भी अपनी प्रतिभा द्वारा हमारे इतिहास में चार चाँद न लगाए हों। क्या धर्म और दर्शन, क्या साहित्य और विज्ञान, क्या समाज और राजनीति, क्या कला और उद्योग—सभी क्षेत्रों में जब-जब भी अवसर मिला, भारतीय महिलाओं की प्रतिभा पूर्ण प्रकाश के साथ प्रस्फुटित हुई और हमारे देश की आत्मकहानी के पन्नों पर अपनी अमिट छाप अंकित कर गई। जिस देवीतुल्य महिला-रत्न का परिचय अब हम आपको देने जा रहे हैं, उसका जीवन भी उपर्युक्त कथन का ही एक उज्ज्वल उदाहरण था। वह एक विमल-चरित्रयुक्त साधुहृदया धर्मपरायणा स्त्री थी, जो आज से लगभग सवा दो सौ वर्ष पूर्व दक्षिण के एक छोटे-से गाँव के एक मराठा-परिवार में पैदा हुई थी। वह न तो विशेष रूपवती ही थी न पढ़ी-लिखी ही, किन्तु बचपन ही से धर्म के प्रति उसके मन में प्रगाढ़ श्रद्धा और दृढ़ता का एक अदम्य भाव जड़ जमाए हुए था—यही उसकी सबसे महान् संपदा थी। योगायोग की बात थी कि वह एक विशद स्वाधीन राज्य की स्वामिनी बनी, जिसके शासन का भार परिस्थितिवश स्वयं अपने ही हाथों में लेने को उसे विवश होना पड़ा। भला उस जैसी निवृत्तिमार्गी स्त्री के लिए यह राज्य-शासन का जंजाल क्योंकर उपयुक्त और अनुकूल होता? यही नहीं, उस विकट युग में एक स्त्री के लिए इस भार को यथोचित रीति से निवाह लेना भी तो कोई आसान बात न थी। फिर भी परिस्थितियों ने जब वह बोझ उसके कंधों पर रक्खा तो एक सच्ची भारतीय वीर नारी की भाँति उसने उसे वहन किया—वह पीछे न हटी! उसने अपने चरित द्वारा यह साबित कर दिया कि भारतीय प्रतिभा केवल पुरुषों तक ही सीमित